Preamble : Chapter Seventeen - The division of Faith alias Shrdhha tray vibhag yog

Earlier in chapter fourteen, Shree Krishna had explained the three gunas or modes of material nature and how they govern human behavior. In this chapter, He goes deeper into the subject. In the beginning, He discusses faith as an inseparable aspect of human nature and says that everyone holds faith. However, depending upon the nature of their mind, their faith adapts a corresponding color: sāttvic, rājasic, or tamasic. The quality of life they lead is determined by the nature of their faith, including the food they prefer to eat. He also classifies food into three categories and discusses the impact of each category upon humans.

Shree Krishna then moves to the subject of yajña (sacrifice) and explains that based on the modes of nature, sacrifice can manifest into varied forms. He also discusses tapah (austerity) and describes the austerities of the speech, body, and mind. Again, based on the modes in which these austerities are performed—goodness, passion, or ignorance, they take different forms. Similarly, dān (charity) and its three-fold division based on the modes of nature are explained.

Towards the end of this chapter, Shree Krishna explains the relevance and importance of the words “Om Tat Sat” and how these words can usher the concept of transcendence. The syllable “Om” is the symbolic representation of the impersonal form of God; “tat” is uttered for dedicating ceremonies and actions to the Supreme Lord and the syllable “sat” signifies eternal virtue and goodness. Together these words symbolize different aspects of the Absolute Truth. Shree Krishna concludes this chapter by emphasizing that the acts of sacrifice, austerity, and charity performed without faith and regard to the guidelines given in the scriptures are futile.

(Courtesy for preamble: The songs of GOD by shree Mukundananda swami)

।। प्रस्तावना : सप्तदशोऽध्याय : श्रद्धा त्रय विभाग योग ।।

पूर्व अध्याय में प्रकृति से युक्त देवीसम्पदा एवम आसुरी सम्पदा को पढ़ने के बाद भी यह शंका तो अवश्य रह जाती है कि प्रकृति के त्रियामी गुण सत–रज–तम का समय समय पर मनुष्य के कार्यो पर प्रभाव पड़ता रहता है। क्योंकि जब सभी प्राणी किसी कार्य को करते है तो उस के अन्तःकरण में कोई न कोई गुण अवश्य कार्य करता रहता है। अतः गुण प्रधान अन्तःकरण के अनुरूप ही उस की श्रद्धा भी वैसी ही गुण वाली होनी चाहिए। श्रद्धा अन्तःकरण का धर्म है इसलिये जैसी श्रद्धा वैसी ही व्यक्ति का स्वरूप एवम व्यवहार होना चाहिये।

यह अध्याय आज के युग के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि अर्जुन की शंका है कि शास्त्र निहित कर्म करने चाहिए तो उन अनेक लोगो का भविष्य क्या होगा जो शास्त्र विधि तो नही जानते किंतु श्रद्धा और विश्वास के साथ भगवान की आराधना करते है। यह लोग भजन, कीर्तन, यज्ञ , मंत्र पाठ और अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार भगवान की पूजा और आराधना करते है। आज के युग में गिने – चुने लोगो को छोड़ दे तो लोग अपने अपने तरीके और विश्वास से परमात्मा को मानते भी है और उस की पूजा भी करते है। अतः कोई यदि यज्ञ आदि छोड़ कर परिवार में रहता हुआ, मात्र भगवान का नाम नित्य स्मरण करता है, तो उस की क्या गति होगी? हम में अधिकांश लोग इसी श्रेणी में है, जिन्हे पूजन की पूरी विधि का ज्ञान नहीं है, किंतु फिर भी हम अपनी श्रद्धा से परमात्मा को पूजते है। अतः यह श्रद्धा को समझना और जानना जरूरी है।

अतः प्रस्तुत अध्याय प्रकृति के त्रियामी गुण का श्रद्धा के साथ मनुष्य के कर्म का विवेचन है इसलिये इसे श्रद्धात्रयविभागयोग कहा गया है। भगवान द्वारा इस अध्याय में मनुष्य द्वारा देव, यक्ष, राक्षस और भूत प्रेतों की प्रकृति के त्रियामी गुणों के विभिन्न श्रद्धा रखते पूजन की बात की है।

देवीसम्पद एवम संसार का नाश करने को उद्यत आसुरी सम्पद को पढ़ने के बाद, प्रकृति के त्रियामी गुण में भी मनुष्य मनुष्य में भेद एक ही गुण होने के बावजूद यदि है तो उस का कारण उस की श्रद्धा है कि उस की श्रद्धा किस पर है।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से जब शास्त्रों का पर्याप्त ज्ञान न हो, तो विश्वास के साथ हम जो कुछ भी पूजा, पाठ करते है, वह हमारी श्रद्धा एवम निष्ठा पर आधारित है। किंतु कभी कभी यह निष्ठा अनजाने में असंगत व्यक्ति के साथ जुड़ जाती है। जैसे कोई संत जो स्वयं सात्विक न हो किन्तु उस पर विश्वास रखने वाला तो सात्विक भाव से पूजता है, उस की श्रद्धा का भाव जानना जरूरी है।

अध्याय में श्रद्धा के स्वरूप और श्रद्धा के सात्विक, राजसी और तामसी रूप में श्रद्धा युक्त देव, यक्ष, राक्षस आदि के पूजन का वर्णन है। इस में दान के प्रकार और आहार का हमारे जीवन पर प्रभाव बताया गया है। इस के बाद शारीरिक, मानसिक और वाचिक तप के स्वरूप का वर्णन है। दान की व्याख्या की गई है। अध्याय के अंत में ॐ, तत् एवम सत शब्दो के प्रयोग की व्याख्या है।

सातवे अध्याय में मनुष्य जेड मनुष्य में भेद का कारण उस का प्रकृति जन्य स्वभाव होता है। इस प्रकृति के तीन गुणों सत – रज – तम का वर्णन हमे अध्याय 14 में मिलता है। किंतु यह शंका रह ही जाती कि श्रद्धा और विश्वास जो मनुष्य के प्रकृति के मूल स्वभाव में उस का इन तीन गुणों पर क्या प्रभाव होता है। व्यवहार में ज्ञान के अभाव में प्रत्येक मनुष्य का किसी न किसी पर श्रद्धा या विश्वास होता है, यह सात्विक, राजसी या तामसी किसी भी गुण के व्यक्ति या वस्तु के प्रति हो। लोग कानून में दोषी पाए व्यक्ति से ले कर ब्रह्मविद व्यक्ति के प्रति श्रद्धा रखते है, इसलिए संसार में गलत कार्य करने वालो के साथ भी उतने लोग खड़े रहते है जितने अन्याय के विरुद्ध लड़ने वालो के। युद्ध भूमि में सेना कौरव और पांडव दोनो ओर थी। राम और रावण के पास अपने अपने विश्वस्त लोग

थे। देश में प्रत्येक राजनैतिक पार्टी, किसी भी D कंपनी या सामाजिक या असमाजिक लोगो के समूह रहते ही है। यह प्रकृतिजन्य स्वभाव का अध्ययन इस अध्याय में हम करते है।

कर्म,मनुष्य के भेद एवम सही श्रद्धा किस प्रकार से और किस प्रकार के लोगो के प्रति रखी जाए को समझने के लिये यह अध्याय भी अत्यंत महत्वपूर्ण भी। वैसे भी 28 श्लोकों में सिमटा यह अध्याय आखिरी दो अध्याय में से एक है। गीता अपने उपसंहार द्वारा समापन की ओर बढ़ रही है, इसलिये हम इस अध्याय द्वारा हमे अपने किये कार्यो एवम श्रद्धा से उचित ही ज्ञान मिलेगा।

।। हरि ॐ तत सत।। प्रस्तावना – अध्याय 17 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.1॥

_अर्जुन उवाच

ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥

arjuna uvāca

"ye śāstra-vidhim utsṛjya

yajante śraddhayānvitāḥ

teṣāṁ niṣṭhā tu kā kṛṣṇa

sattvam āho rajas tamaḥ"

भावार्थ :

अर्जुन ने कहा – हे कृष्ण! जो मनुष्य शास्त्रों के विधान को त्यागकर पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर पूजा करते हैं, उनकी श्रद्धा सतोगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी या अन्य किसी प्रकार की होती है? (१)

Meaning:

Arjuna said:

Those who, setting aside laws of scripture, perform worship endowed with faith, O Krishna, what is their position? Is it of sattva, rajas or tamas?

Explanation:

In order to prevent the prompting of actions by selfish desire, we should use the scriptures as a guide to decide what to do or what not to do. This was the concluding message of the previous chapter. Hearing this, the word “shaastra” or scripture stuck in Arjuna’s mind. Perhaps he foresaw that over the course of time, most people will not have access to scriptures. They will not be able to receive the guidance of a real guru who truly cares about their spiritual growth versus extracting money from them. He wanted to know, like all of us do, how to use our judgement without access to scriptural laws.

Let us now investigate what category of people Arjuna is speaking about. There are those who may have access to the scriptures, may even understand the scriptures, but have no inclination of following them. Such people were covered in the last chapter under the category of devilish qualities. Conversely, there are people who understand the scriptures and also conduct their life according to scriptures. These people were covered under the category of divine qualities. This chapter covers those people who do not have access to the scriptures, but yet try to lead their lives through faith, sincerity and honesty.

So then, Arjuna asks this extremely practical question on behalf of common people who have faith in some higher principle. Some may be devotees of Shri Krishna, some of Lord Shiva, some of Lord Ganesha. Some may not have faith in a deity but may have faith in a spiritual text such as the Gita. Some may have not have faith in any of these but may have faith in a friend, spouse or relative who has faith in a deity or a spiritual text. Some may have faith in their nation or in a higher cause such as improving the state of the nation’s education system.

Regardless of what their faith is, such people would like to set themselves on a path that gains them happiness in the material world, and also enables them to pursue the supreme goal of self realization or liberation. In the absence of scripture as the authority, faith determines the course of action for such people. How can they determine whether their faith is saattvic, rajasic or tamasic? How can they ensure that their faith is leading them in the right direction?

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व अध्याय में शास्त्रों से मार्गदर्शन लेने की बात कही थी। प्रकृति के सत–रज–तम तीन गुण है जिस के कारण देवीसम्पद एवम आसुरी सम्पद गुण में जीव जीता है। इसलिए दैवीय और आसुरी गुणों में कर्म से कोई वर्गीकरण नही करते हुए प्रकृति के इन तीन गुणों के आधार पर वर्गीकरण किया गया है। सही और गलत को जानने के लिए शास्त्र को पढ़ने की बात भी कही गई है। अतः अर्जुन पुनः शंका करने लगते है कि यही शास्त्रों का ज्ञान सही या न हो, किन्तु मन मे श्रद्धा भाव है तो वह किसी को भी जिस के प्रति उस की श्रद्धा है, अज्ञान वश पूजने लग जाता है। आज के समय मे लगभग बहुत लोग इस श्रेणी में ही आते है जो समयाभाव में शास्त्र नहीं पढ़ते, उन्हें जैसा कोई बताए उसे ही श्रद्धा भाव से ग्रहण कर के उस पर अमन करने लग जाते है। उन का यह श्रद्धा भाव सकाम और निष्काम दोनों हो सकता है। श्रद्धा सात्विक गुण भी है, ऐसे में यह भी हो सकता है जिसे वह श्रद्धा भाव से पूज रहे है, स्वयं अज्ञान में हो। वह लोग केवल वृद्ध व्यवहारको आदर्श मानकर, जो श्रद्धापूर्वक देवादिका पूजन करते हैं। तो इस प्रकार से पूजन प्रकृति के किस गुण में आता है। अक्सर लोग कह देते है कि मेरे मन में कोई पाप नहीं था, सामने वाले के मन को मैं नहीं जानता, उस ने गलत काम किया तो उस का फल वह भोगेगा, मैंने कोई गलत नही किया तो मैं उस के काम में क्यों भागीदार बनूं।

व्यवहारिक मुश्किल यह है कि कलियुग में दम्भ, पाखण्ड ज्यादा होने से कई दम्भी और पाखण्डी पुरुष सन्त बन जाते हैं। अतः सच्चे सन्त पहचान में आने मुश्किल हैं। इस प्रकार पहले तो सन्त महात्मा मिलने कठिन हैं और मिल भी जायँ तो उन में से कौन से संत कैसे हैं, इस बात की पहचान प्रायः नहीं होती और पहचान हुए बिना उन का संग कर के विशेष लाभ ले लें, ऐसी बात भी नहीं है। अतः जो शास्त्रविधि को भी नहीं जानते और असली सन्तों का सङ्ग भी नहीं मिलता, परन्तु जो कुछ यजनपूजन करते हैं, श्रद्धा से करते हैं, ऐसे मनुष्यों की निष्ठा कौनसी होती है?

अर्जुन चाहते है कि भगवान् श्रीकृष्ण विस्तृतरूप से इसका विवेचन करें कि किस प्रकार हम प्रभावशाली और लाभदायक आध्यात्मिक जीवन को अपना सकते हैं। इस के साथ ही अध्यात्मविषयक भ्रान्त धारणाओं का भी वे निराकरण करें।

शास्त्रविधि को त्यागकर प्राय धर्मशास्त्रों से अनभिज्ञ होने के कारण सामान्य जनों को शास्त्रीय विधिविधान उपलब्ध नहीं होते हैं। यदि शास्त्रों को उपलब्ध कराया भी जाये, तो बहुत कम लोग ऐसे होते हैं, जिनमें तत्प्रतिपादित ज्ञान को समझने की बौद्धित क्षमता होती है।

सांसारिक जीवन में कर्मों की उत्तेजनाओं तथा मानसिक चिन्ताओं और व्याकुलता के कारण शास्त्रनिर्दिष्ट मार्ग के अनुसार अपना जीवन सुनियोजित करने की पात्रता हम में नहीं होती। परन्तु, इन सबका अभाव होते हुए भी एक लगनशील साधक को श्रेष्ठतर जीवन पद्धति तथा धर्म के आदर्श में दृढ़ श्रद्धा और भक्ति हो सकती है। इसलिए अर्जुन के प्रश्न का औचित्य सिद्ध होता है। यहाँ प्रयुक्त यज्ञ शब्द से वैदिक पद्धति के होमहवन आदि ही

समझना आवश्यक नहीं हैं। गीता सम्पूर्ण शास्त्र है और उसमें उन शब्दों की अपनी परिभाषाएं भी दी गयी है। यज्ञ शब्द की परिभाषा में वे समस्त कर्म समाविष्ट हैं, जिन्हें समाज के लोग अपनी लौकिक और आध्यात्मिक उन्नति के लिए निस्वार्थ भाव से करते हैं। अर्जुन की जिज्ञासा यह है कि जगत् के पारमार्थिक अधिष्ठान को जाने बिना भी यदि मनुष्य यज्ञभावना से कर्म करता है, तो क्या वह परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है उसकी स्थिति क्या कही जायेगी अपने प्रश्न को और अधिक स्पष्ट करते हुए वह पूछता है कि ऐसे श्रद्धावान् साधक की निष्ठा कौनसी श्रेणी में आयेगी सात्त्विक, राजसिक या तामसिक? क्या उस की श्रद्धा जीवन के सही दिशा में बढ़ रही जो मोक्ष का मार्ग है या फिर आसुरी सम्पदा की ओर?

अर्जुन का यह प्रश्न आज के युग के लिए अत्यंत प्रासंगिक है क्योंकि पूर्व अध्याय में भगवान कहते है जो शास्त्र विधि त्याग कर अपनी इच्छा अनुसार यजन करता है, उसे न तो सिद्धि मिलती है, न ही सुख और न ही परम गति मिलती है। शास्त्र के अध्ययन के गुरु की जरूरत है, आधुनिक युग में सांसारिक कार्यों से फुरसत भी नही होती। संस्कृत का सही ज्ञान न होने से समझ में भी जल्दी नहीं आते। इसलिए व्यक्ति अपनी अपनी निष्ठा और श्रद्धा से पूजा, यज्ञ, कीर्तन, पाठ आदि करता है। उस की भावना और श्रद्धा भगवान के प्रति होने से वह अच्छी बातो को सुनता भी है और अपनी अभिव्यक्ति भी जहां तक हो सके सात्विक बनाए रखता है। इस में कुछ लोग सत्य में धर्म के प्रति आस्था रखते है, कुछ दिखावे के लिए। कुछ के लिए धर्म व्यवसाय और कुछ के लिए धर्म राजनैतिक आधार भी होता। कुछ अन्य धर्म से घृणा रखते हुए, अपने धर्म का गुणगान करते है। इन सब के द्वारा न तो शास्त्र का अध्ययन किया होता है और न ही उन को उचित गुरु मिलता है। कुछ बिना अध्ययन के लिए पंडित हो कर अपने विचारो और अपनी श्रद्धा और विश्वास के आधार पर उपदेशक, आज के योग में व्हाट्सएप में संदेश भेजनेवाले या एडमिन भी बन जाते है। कुछ लेखक और कुछ धर्म प्रचारक, मठाधीश आदि भी बन कर समाज का मार्ग दर्शन भी करते है। श्रद्धा अर्थात निष्ठा अध्ययन के अभाव में अहम, अंधविश्वास या अति विश्वास में परिणित भी हो जाता। इस से व्यक्ति धर्म भीरू, आलसी, परमात्मा पर अपना कर्म न करते हुए, निर्भर हो कर उसी को दोष भी देने लगता है। मात्र अपने मन के विचारो और सुनी सुनाई बातो के आधार पर पूजा और यजन करने वाले इन भक्तों की क्या गति होती है, इस को अर्जुन द्वारा सब के हित में जानना जरूरी है।

शास्त्रविधि को न जानने पर भी मनुष्य मात्र में किसी न किसी प्रकार की स्वभावता श्रद्धा तो रहती ही है। उस श्रद्धा के श्रद्धात्रयविभाग योग के अध्याय में इस भेद को आगे के श्लोक में बताते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.01।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.2॥

श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।

सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां श्रृणु ॥

śrī-bhagavān uvāca

"tri-vidhā bhavati śraddhā

dehināṁ sā svabhāva-jā

sāttvikī rājasī caiva

tāmasī ceti tāṁ śṛṇu"

भावार्थ :

श्री भगवान् ने कहा – शरीर धारण करने वाले सभी मनुष्यों की श्रद्धा प्रकृति गुणों के अनुसार सात्विक, राजसी और तामसी तीन प्रकार की ही होती है, अब इसके विषय में मुझसे सुन। (२)

Meaning:

Shree Bhagavaan said:

Threefold is the faith that comes from the nature of the embodied ones, saatvic, raajasic and taamasic. Listen about that from me.

Explanation:

Arjuna began this chapter by posing the following question. If one does not have access to the scriptures but uses their faith to guide their lives, what kind of a position is that? Shri Krishna does not answer that question directly. The entire chapter, in fact, is the answer to that question.

It is not an easy question to answer because faith differs from person to person. We can say that we trust our faith, our conscience, to guide us towards performing right actions. But the faith of a terrorist is different than faith of a saint. If we do not have guru to guide us, we cannot assess our faith objectively. So how should we tackle this issue?

Shri Krishna gives us a starting point to help us. We first need to understand what he means when he says that faith comes from svabhaava or nature. What exactly is meant by nature here? Nature refers to the collection of samskaaraas or impressions that are present in a person, a “dehin” or embodied one, from birth until death. Whenever we perform an action and get its result, both the action and result are ingrained in our mind in the form of an impression. This impression is called as samskaara. Whenever we repeat the action and get the same result, the impression is further ingrained and strengthened. If we repeat it often enough, it becomes a habit. It could be a good habit such as respecting our elders, or a bad habit such as smoking.

So this nature, this collection of samskaaraas or impressions, is where our faith comes from. Now let’s go back to Arjuna’s question. In the absence of scriptures, in the absence of a rational, logical means to check our actions, what will happen if we use our faith instead? If someone swears loudly at us in the middle of the street, we will respond instinctively at that point rather than using logic or reason. We may punch the person who yelled at us, or we may ignore him. It depends on the makeup of our nature.

Now, based on the makeup of our nature, we can classify our faith into three types: saatvic, raajasic and taamasic. But it is difficult to do so directly. We will have to infer the nature of faith through something else. Shri Krishna tells Arjuna to listen, since he will explain how to do this.

।। हिंदी समीक्षा ।।

जो मनुष्य शास्त्रों का अध्ययन नहीं करते उन की बुद्धि का विकास संगति एवम पूर्वजन्म के संस्कारों से होता है। इसलिये इस मनुष्यो में देह के प्रति एक स्वाभाविक अभिमान रहता है, जो इन का स्वभाव या प्रकृति भी बन जाता है। यही स्वाभाविक अभिमान या प्रकृति श्रद्धा रूप में तीन प्रकार की होती है जिसे हम सात्विक–राजसी एवम तामसी के नाम से जानते है।

वह व्यक्ति मेरा काम अवश्य कर देगा। इस साधन से मैं यह कार्य कर सकता हूं। यह शिक्षक, गुरु या स्वामी, डॉक्टर, स्कूल, हॉस्पिटल या CA सही है या यह गलत है। इस तीर्थ में जाने से मेरे मन को शांति मिल जाएगी। मेरे आराध्य यही भगवान है, इन के अतिरिक्त मैं किसी भगवान या धर्म पर विश्वास नहीं करता। देश के लिए यही नेता या पार्टी उचित है। मै किसी भगवान को नही मानता। ऐसे अनेक कार्य हम अपनी अपनी श्रद्धा से करते रहते है। यहां तक कि किसी की हत्या करने से 72 हूर मिलेगी या नर्क मिलेगा, यह भी श्रद्धा पर ही निर्भर है।

श्रद्धा एवम विश्वास किसी भी व्यक्ति या मनुष्य के अभिन्न अंग है। किसी कार्य को करना या न करना, किसी का साथ देना या n देना, किसी धार्मिक कृत्य को करना या न करना आदि सभी उस व्यक्ति की उस कार्य, वस्तु या व्यक्ति के प्रति श्रद्धा के नकारात्मक या सकारात्मक स्वरूप पर निर्भर। कर्म के प्रारब्ध और संचित स्वरूप से आए गुणों, वर्तमान समय में संगति, स्थान और परिवार आदि पर निर्भर है। अतः श्रद्धा स्थान – विशेष, धर्म, जाति, पारिवारिक वातावरण, कर्म क्षेत्र और संगति के अनुसार भिन्न भिन्न होती है। भगवान इसी श्रद्धा को प्रकृति के आधार पर सात्विक राजसी और तामसी तीन गुणों में विभाजित करते हुए बता रहे है।

श्रद्धा को स्वभावजा कहा गया है क्योंकि यह व्यक्ति के स्वभाव से उत्पन्न होती है, शास्त्र से नही। अर्जुन भी शास्त्र का जो अध्ययन नही करते, उन के लिए ही प्रश्न कर रहे है।

अर्जुन का यह प्रश्न साधारण मनुष्यों के विषय में है अतः इस का उत्तर बिना विभाग किये देना उचित नहीं, इस अभिप्राय से श्रीभगवान् बोले, जिस निष्ठा के विषय में तू पूछता है। वह मनुष्यों की वह स्वभावजन्य श्रद्धा अर्थात् जन्मान्तर में किये हुए धर्म अधर्म आदि के जो संस्कार मृत्यु के समय प्रकट हुआ करते हैं उनके समुदाय का नाम स्वभाव है, उस से उत्पन्न हुई है, यह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। सत्त्वगुण से उत्पन्न हुई देवपूजादिविषयक श्रद्धा सात्त्विकी है, रजोगुण से उत्पन्न हुई यक्षराक्षसादि की पूजाविषयक श्रद्धा राजसी है और तमोगुण से उत्पन्न हुई प्रेतपिशाच आदिकी पूजाविषयक श्रद्धा तामसी है।

श्रद्धा के अनुसार हमारी वासनाएं होती हैं और वे ही जीवन विषयक हमारे दृष्टिकोण को निश्चित करती हैं। हमारे समस्त विचार, भावनाएं और कर्म हमारे दृष्टिकोण के अनुरूप ही होते हैं। अत स्वाभाविक ही है कि मनुष्य के शारीरिक कर्म, मानसिक व्यवहार और बौद्धिक संरचनाएं सब उसकी श्रद्धा से निश्चित होते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी श्रद्धा के अनुरूप होता है, यह नियम है। जो मनुष्य अपनी देह के साथ जितना अधिक तादात्म्य करेगा उतना ही अधिक स्थूल और दृढ़ उसका अभिमान या अहंकार होगा। यह सब सत्त्व, रज और तम इन गुणों के न्यूनाधिक्य पर निर्भर करता है।

श्रद्धा या विश्वास परमात्मा के प्रति डाकू एवम संत का एक जैसा हो सकता है किन्तु प्रकृति या स्वभाव भिन्न भिन्न होने से श्रद्धा के गुण एक जैसे नही हो सकते।

श्रद्धा के समझने के लिए इन तीन गुणों के सन्दर्भ का क्या औचित्य है, इसे आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.02।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.3॥

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

"sattvānurūpā sarvasya

śraddhā bhavati bhārata

śraddhā-mayo 'yaṁ puruṣo

yo yac-chraddhaḥ sa eva saḥ"

भावार्थ :

हे भरतवंशी! सभी मनुष्यों की श्रद्धा स्वभाव से उत्पन्न अर्जित गुणों के अनुसार विकसित होती है, यह मनुष्य श्रद्धा से युक्त है, जो जैसी श्रद्धा वाला होता है वह स्वयं वैसा ही होता है। (३)

Meaning:

The faith of each is according to his nature, O Bhaarata. This human being is comprised of faith. As his faith, so is he.

Explanation:

Shri Krishna emphasized the point made in the earlier shloka. The human being is nothing but a bundle of faiths, also known as beliefs, prejudices, customs, culture, tradition, basically everything that is ingrained into us as samskaaraas or impressions. But where do these impressions come from? Some of these impressions come from external factors, and some of these are present in us right from our birth.

When we see a child prodigy perform a complicated symphony, we may say that she got this skill from non stop practice since her birth, or we may say that she got it from her practice in a previous life. In any case, her actions are a product of the samskaaraas or impressions formed through countless hours of practice.

Shri Krishna says that faith is according to one's sattva. Here, sattva is not used in its traditional meaning as a guna like rajas and tamas. Sattva refers to our svaabhaava, our nature, the bundle of impressions that are stored in our inner instrument, our antaha karana, which is comprised of our mind, intellect, memory and senses. This sattva, this bundle of impressions, makes us choose our actions throughout our lives. Although we think of ourselves as rational individuals, we use logic and reason to justify and rationalize our faith, in a roundabout way.

Now we come back to the question posed in the previous shloka. How can we assess the texture of our faith, our beliefs and our prejudices? We need to examine our actions. Our faith, our beliefs and our prejudices guide our actions. Therefore, by examining the texture of our actions, we can determine the texture of our faith. Our faith could be saatvic, raajasic or taamasic. Shri Krishna now takes each aspect of our actions and gives us guidelines on how to determine their texture.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मनुष्य की सांसारिक प्रवृत्ति संसार के पदार्थों को सच्चा मानने, देखने, सुनने और भोगने से होती है तथा पारमार्थिक प्रवृत्ति परमात्मा में श्रद्धा करने से होती है। जिसे हम अपने अनुभव से नहीं जानते, पर पूर्व के स्वाभाविक संस्कारों से, शास्त्रों से, संत महात्माओं से सुन कर पूज्यभाव सहित विश्वास कर लेते हैं, उस का नाम है श्रद्धा। श्रद्धा को लेकर ही आध्यात्मिक मार्ग में प्रवेश होता है, फिर चाहे वह मार्ग कर्मयोग का हो, चाहे ज्ञानयोग का हो और चाहे भक्तियोग का हो, साध्य और साधन , दोनों पर श्रद्धा हुए बिना आध्यात्मिक मार्ग में प्रगति नहीं होती।

पुरुषों की गणना करे तो जो शास्त्र ज्ञान लेते है वो ज्ञानविद हो कर गुणातीत हो जाते है। किंतु जो अध्ययन नही करते एवम कर्म एवम अनुभव से अपने अपने स्वभाव के अनुसार श्रद्धा रखते, हम इस अध्याय में उन्ही को समझ रहे है।

दूसरे श्लोक में स्वभावजा और इस श्लोक में सत्व शब्द दोनों एक ही अर्थ अर्थात देह स्वभाव, बुद्धि एवम अन्तःकरण के लिए प्रयुक्त हुए है। सांख्य एवम वेदान्त दोनों मानते है कि स्वभाव का अर्थ प्रकृति और प्रकृति से बुद्धि एवम अन्तःकरण उत्पन्न होते है। इसलिये जिस की जैसी बुद्धि, वैसा ही फल उसे मिलेगा। गीता में भी पूर्व में कहा गया है कि जो जिस भाव एवम श्रद्धा से जिस भी देवता आदि का पूजन करते है, उन्हें उसी भाव एवम श्रद्धा के अनुसार फल मिलता है।

क्योंकि स्वभाव, बुद्धि एवम अन्तःकरण प्रकृति है और जीव परमात्मा का अंश। इसलिये अभ्यास और वैराग्य से प्रकृति को धीरे धीरे बदला जा सकता है। जैसी प्रकृति अर्थात सत–रज–तम वैसी ही श्रद्धा होगी। इसलिये श्रद्धा भी त्रिधा भेद माने गए है जिन्हें सात्विक, राजसी एवम तामसी कह सकते है।

भगवान् यहाँ कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा उसके स्वभाव अर्थात् संस्कारों के अनुरूप होती है। निश्चितरूप से यह कह पाना कठिन है कि श्रद्धा हमारे स्वभाव को निर्धारित करती है अथवा हमारा स्वभाव श्रद्धा का निर्धारणकर्ता है। इन दोनों में अन्योन्याश्रय है। तथापि, गीता में स्वभाव को ही श्रद्धा का निर्धारक घोषित किया गया है। यद्यपि, जीवन में अनेक अवसरों पर दुखदायक अनुभवों अथवा अन्य प्रबल कारणों से मनुष्य की एक प्रकार की श्रद्धा खंडित होकर नवीन श्रद्धा जन्म लेती है और उस स्थिति में उसका स्वभाव उस श्रद्धा का अनुकरण भी करता है। परन्तु, सामान्य दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की श्रद्धा का गुण और वर्ण उसके स्वभाव के अनुरूप ही होता है। श्रद्धा का मूल या सारतत्त्व मनुष्य की उस गूढ़ शक्ति में निहित होता है, जिसके द्वारा वह अपने चयन किये हुए लक्ष्य की प्राप्ति का निश्चय दृढ़ बनाये रखता है। मनुष्य की सार्मथ्य ही लक्ष्य प्राप्ति में उसके विश्वास को निश्चित करती है। तत्पश्चात् यह विश्वास उसकी सार्मथ्य को द्विगुणित कर उस मनुष्य की योजनाओं को कार्यान्वित करने में सहायक होता है। इस प्रकार क्षमता और श्रद्धा परस्पर पूरक और सहायक होते हैं मनुष्य के स्वभाव पर गुणों के प्रभाव का वर्णन पहले किया जा चुका है। पूर्वकाल में अर्जित किसी गुणविशेष के आधिक्य का प्रभाव मनुष्य में उसकी बाल्यावस्था से ही दिखाई देता है। यहाँ प्रयुक्त सत्त्वानुरूपा शब्द के द्वारा इसी तथ्य को इंगित किया गया है।

मनुष्य के जीवन में श्रद्धा की बड़ी मुख्यता है। मनुष्य जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उस का स्वरूप, उस की निष्ठा है। वह आज वैसा न दिखे तो भी क्या पर समय पाकर वह वैसा बन ही जायगा। आजकल साधक के लिये अपनी स्वाभाविक श्रद्धा को पहचानना बड़ा मुश्किल हो गया है। कारण कि अनेक मत मतान्तर हो गये हैं। कोई ज्ञान की प्रधानता कहता है, कोई भक्ति की प्रधानता कहता है, कोई योग की प्रधानता कहता है, आदि आदि। ऐसे तरह तरह के सिद्धान्त पढ़ने और सुनने से मनुष्य पर उनका असर पड़ता है, जिस से वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाता है कि मैं क्या करूँ मेरा वास्तविक ध्येय, लक्ष्य क्या है मेरे को किधर चलना चाहिये ऐसी दशा में उसे गहरी रीति से अपने भीतर के भावों पर विचार करना चाहिये कि सङ्ग से बनी हुई रुचि, शास्त्र से बनी हुई रुचि, किसी के सिखाने से बनी हुई रुचि, गुरु के बताने से बनी हुई रुचि, ऐसी जो अनेक रुचियाँ हैं, उन सब के मूल में स्वतः उद्‌बुद्ध होनेवाली अपनी स्वाभाविक रुचि क्या है। मूल में सब की स्वाभाविक रुचि यह होती है कि मैं सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाऊँ और मुझे सदा के लिये महान् सुख मिल जाय। ऐसी रुचि हरेक प्राणी के भीतर रहती है। मनुष्यों में तो यह रुचि कुछ जाग्रत् रहती है। उन में पिछले जन्मों के जैसे संस्कार हैं और इस जन्म में वे जैसे मातापिता से पैदा हुए जैसे वायुमण्डल में रहे, जैसी उन को शिक्षा मिली, जैसे उन के सामने दृश्य आये और वे जो ईश्वर की बातें, परलोक तथा पुनर्जन्म की बातें, मुक्ति और बन्धन की बातें, सत्सङ्ग और कुसङ्गकी बातें सुनते रहते हैं, उन सब का उन पर अदृश्यरूप से असर पड़ता है। उस असर से उन की एक धारणा बनती है। उन की सात्त्विकी, राजसी या तामसी, जैसी प्रकृति होती है, उसी के अनुसार वे उस धारणा को पकड़ते हैं और उस धारणा के अनुसार ही उनकी रुचि श्रद्धा बनती है। इस में सात्त्विकी श्रद्धा परमात्मा की तरफ लगाने वाली होती है और राजसी – तामसी श्रद्धा संसार की तरफ।गीता में जहाँ कहीं सात्त्विकता का वर्णन हुआ है, वह परमात्मा

की तरफ ही लगानेवाली है। अतः सात्त्विकी श्रद्धा पारमार्थिक हुई और राजसी – तामसी श्रद्धा सांसारिक हुई अर्थात् सात्त्विकी श्रद्धा दैवी सम्पत्ति हुई और, राजसी – तामसी श्रद्धा आसुरी सम्पत्ति हुई।

श्रद्धा को जल के समान समझे तो यह विशुद्ध हो संभव नही, अतः प्रकृति के तीन गुणों का इस पर प्रभाव रहेगा। मिर्ची से मिल कर जल तीखा और गन्ने के रस से मिल कर जल मीठा होगा ही। जैसे पुष्प को देख कर वृक्ष को पहचान सकते है, वैसे ही मनुष्य के संभाषण और व्यवहार को देखकर उस का अंतकरण पहचाना जा सकता है। स्वभाव मुख्यतः बुद्धि से नियंत्रित है, इसलिए जिस की जैसी बुद्धि होगी उसे वैसा ही फल मिलेगा, और बुद्धि का वैसा होना प्रकृति या स्वभाव पर निर्भर है। इसलिए बुद्धि कैसे सुधर जाए, तो समझे कि आत्मा तो स्वतंत्र, नित्य और अकर्ता है, इसलिए जो कुछ करती है वह प्रकृति करती है। अतः बुद्धि का सुधार अभ्यास और वैराग्य भाव से बदला जा सकता है। आज यदि हम जो कुछ है, वो हमारे बुजुर्ग के संस्कार, और दिए ज्ञान से है किंतु इस पर प्रभाव समय, समाज, परिस्थिति और आधुनिकता के बहाव में सामाजिक, आर्थिक और भौतिक बदलाव का प्रभाव भी है। भारत में नई पीढ़ी को पुराने संस्कारों और शास्त्रों के सही ज्ञान का अभाव होने से, इन की श्रद्धा आज के युग की सामाजिक, आर्थिक और भौतिक वातावरण से अतिभौतिकवादी गई है। कुछ वर्ग में असुर वृति की श्रद्धा बचपन से पीढ़ी को मिलने से उन की श्रद्धा भी तामसी हो गई है। बुजुर्गो का अपमान, अश्लीलता, लोभ, अहंकार और अपने को दूसरो से अधिक बुद्धिमान समझने और पैसे का मूल्य नैतिकता से अधिक समझना आज की पीढ़ी की श्रद्धा आधुनिकता के चक्कर में सिनेमा, TV और संवाद की अति सुलभता बिना शास्त्र ज्ञान के भौतिकवादी अर्थात तामसी ही कह सकते है, जिस में उन का पूजन, यजन और सामाजिक कार्य भी सम्मलित है।

दैवीसम्पत्ति को प्रकट करने और आसुरी सम्पत्ति का त्याग करने के उद्देश्य से सत्रहवाँ अध्याय चला है। कारण कि कल्याण चाहनेवाले मनुष्य के लिये सात्त्विकी श्रद्धा (दैवीसम्पत्ति) ग्राह्य है और राजसी – तामसी श्रद्धा (आसुरीसम्पत्ति) त्याज्य है।

श्रद्धा स्थिर नही है, यह ज्ञान, परिस्थिति, किसी अप्रत्याशित घटना से, अभ्यास या संगति से बनती –बिगड़ती रहती है। श्रद्धा अर्थात स्वभाव अंतः प्रकृति ही है और प्रकृति त्रिधा अर्थात सत, रज और तम है, इसलिए श्रद्धा भी में यही तीन भेद है। अपने इष्ट के यजन पूजन द्वारा मनुष्यों की निष्ठा अर्थात श्रद्धा के भेद की पहचान किस प्रकार होती है, अब उस को पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.03।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.4॥

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।

प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये जयन्ते तामसा जनाः ॥

"yajante sāttvikā devān

yakṣa-rakṣāṁsi rājasāḥ

pretān bhūta-gaṇāṁś cānye

yajante tāmasā janāḥ"

भावार्थ :

सात्त्विक गुणों से युक्त मनुष्य अन्य देवी–देवताओं को पूजते हैं, राजसी गुणों से युक्त मनुष्य यक्ष और राक्षसों को पूजते हैं और अन्य तामसी गुणों से युक्त मनुष्य भूत–प्रेत आदि को पूजते हैं। (४)

Meaning:

Saatvic individuals worship deities, raajasic individuals worship the yakshas and the raakshasas, others, taamasic individuals, the pretas and band of bhootas.

Explanation:

Shri Krishna says that people who have faith can be placed in three categories. Those that worship deities such as Lord Ganesha, Lord Shiva and so on are saatvic. Those that worship materialistic spirits or yakshas such as Kubera the lord of wealth are raajasic. Those that worship ghosts and demons are taamasic. Hearing this, we may say that we only worship deities. We never worship anything else. Therefore, we may conclude that we are highly saatvic individuals.

But as we have seen in karma yoga, the attitude with which we perform an action is equally important as the action itself. Imagine that three people visit the same temple at the same time and pray to the same deity. One person may pray because he wants his daughter to get married. One may pray to knock off his business competitor. Another may pray so that he attains liberation in this life. Outwardly, they may seem to be doing the same action, but there is a world of difference in

their attitude. This difference in attitude is symbolically conveyed in the shloka using terms such as ghosts and demons.

So, analyzing our actions is not as easy as observing what we do. We also need to note our attitude behind our actions. As we saw earlier, our nature or svabhaava determines our attitude and our actions. To uncover the texture of our faith, we first need to uncover our attitudes and motivations, which requires a high degree of awareness. To get better and doing so, Shri Krishna covers a gamut of actions in this chapter so that we can practice observing our attitude as well as our actions, observe what we do and why we do it.

।। हिंदी समीक्षा ।।

शास्त्र के अनुसार कर्म करने वालो के अतिरिक्त उन मनुष्यों का वर्गीकरण करना आवश्यक है जो शास्त्र के अनुसार तो नही चलते, किन्तु अपने आत्मविश्वास और ज्ञान के आधार पर अपनी एक निष्ठा बना लेते है। उन की प्रवृति का वर्णन दैवीय और आसुरी वृति में हम ने पढ़ा किंतु यहां उन के विश्वास और श्रद्धा का भी वर्गीकरण प्रकृति के त्रय गुणों के आधार पर किया गया है। देवता अर्थात अग्नि, वायु और सूर्य, राक्षस यानि कुबेर – यक्ष जिस में राहु, यम, पितर आदि ले सकते है, तृतीय भूत – प्रेत को पूजने वाले होते है। इन सभी को पूजा करने वाले यद्यपि परमात्मा को ही पूजते है किंतु इन की अपनी सीमित क्षमता के आधार पर परमात्मा ही इन को पूजने वालो की मनो कामना भी पूरी करता है। इन की इन से मनो कामना सात्विक, राजसी और तामसी होती है।

प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में किसी न किसी आदर्श या पूजा वेदी को अपनी सम्पूर्ण भक्ति अर्पित करता है। तत्पश्चात् अपने आदर्श के आह्वान के द्वारा अपनी इच्छा की पूर्ति चाहता है। शास्त्रीय भाषा में इसे पूजा कहते हैं। इस शब्द से केवल शास्त्रोक्त विधान की षोडशोपचार पूजाविधि ही नहीं समझनी चाहिए। उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी की आराधना करता है फिर उसका आराध्य नाम, धन, यश, कीर्ति, देवता आदि कुछ भी हो सकता है। प्रत्येक मनुष्य का आराध्य उसकी श्रद्धा के अनुसार ही होता है, जिसका वर्णन यहाँ किया गया है।

इसलिये कार्यरूप चिह्न से अर्थात् (उन श्रद्धाओं के कारण होनेवाली) देवादि की पूजा से,सात्त्विक आदि निष्ठाओं का अनुमान कर लेना चाहिये। ऐसा माना जाता हैं, सात्त्विक निष्ठावाले पुरुष देवों का पूजन करते हैं, राजसी पुरुष यक्ष और राक्षसों का तथा अन्य जो तामसी मनुष हैं, वे प्रेतों और सप्तमातृकादि भूतगणों का पूजन किया करते हैं।

सात्त्विक स्वभाव के लोग अपने श्रेष्ठ और दिव्य संस्कारों के कारण सहज ही देवताओं की अर्थात् दिव्य और उच्च आदर्शों की पूजा करते हैं। रजोगुणप्रधान लोग अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी और क्रियाशील स्वभाव के होते है। इसलिए,

वे यक्ष, राक्षसों की ही पूजा करते हैं। तात्पर्य यह है कि आराध्य का चयन भक्त के हृदय की मौन मांग के ऊपर निर्भर करता है। कोई भी व्यक्ति वस्त्रों का क्रय करने किसी पुस्तकालय में नहीं जायेगा। इसी प्रकार, रजोगुणी लोगों को कर्मशील आदर्श ही रुचिकर प्रतीत होते हैं।तामसिक लोग अपनी निम्नस्तरीय विषय वासनाओं की पूर्ति के लिए भूतों और प्रेतात्माओं की आराधना करते हैं। जगत् में भी यह देखा जाता है कि असत् शिक्षा और अनैतिकता से युक्त लोग अपनी दुष्ट और अपकारक महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए प्राय नीच, प्रतिशोधपूर्ण और दुराचारी लोगों की (भूत, प्रेत) सहायता लेते हैं। ये नीच लोग यद्यपि शरीर से जीवित, किन्तु जीवन की मधुरता और सुन्दरता के प्रति मृत होते हैं।इसी अभिप्राय को इसके पूर्व भी अनेक श्लोकों में प्रकट किया जा चुका है। प्राय लोगों में भूतप्रेतों के विषय में जानने की अत्यधिक उत्सुकता रहती है। क्या प्रेतात्माओं का वास्तव में अस्तित्व होता है यह सबकी जिज्ञासा होती है, परन्तु गीता के प्रस्तुत प्रकरण का अध्ययन करने के लिए इस विषय में विचार करना निरर्थक है। इतना ही जानना पर्याप्त है कि भूत व प्रेत के द्वारा कुछ विशेष प्रकार की शक्तियों की ओर इंगित किया गया है, जो इस भौतिक जगत् में भी उपलब्ध हो सकती हैं। शुद्धान्तकरण के सात्त्विक, महत्त्वाकांक्षी राजसी और प्रमादशील तामसी जन क्रमश सहृदय मित्रों से सहायता, धनवान् और समर्थ लोगों से सुरक्षा और अपराधियों से शक्ति प्राप्त करने के लिए उपयुक्त देव, यक्ष और प्रेतात्माओं की पूजा करते हैं। मनुष्य के कार्यक्षेत्र से ही कुछ सीमा तक उसकी श्रद्धा को समझा जा सकता है। समाज के सत्त्वनिष्ठ पुरुष विरले ही होते हैं। सामान्यत राजसी और तामसी जनों की संख्या अधिक होती है और उनके पूजादि के प्रयत्न भी दोषपूर्ण होते हैं।

यद्यपि शास्त्र पर श्रद्धा या ज्ञान न रखने वाले मनुष्य का वर्णन प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार उन के सत्वगुण पर किया गया है तो यह लोग कामपरायण एवम दाम्भिक लोग है जो निरे सात्विक या तामसी भी नही कहे जा सकते। श्रद्धा भाव से की गई पूजा व्यक्ति विशेष के स्वभाव या अन्तःकरण की वयक्ति है। अतः उस को देवीसम्पदा या आसुरी सम्पदा के दृष्टिकोण से नही देख सकते। इस श्रद्धा में रजोगुण अर्थात कर्म करने की भी प्रवृति होती है। यह श्रद्धा अज्ञान एवम शास्त्रों के अध्ययन अथवा श्रेष्ठ गुरु या ज्ञानी के मार्गदर्शन के अभाव से पूर्वज के संस्कार, इस जन्म में संगत, अनुभव एवम काम और मोह से उत्पन्न श्रद्धा ही मान सकते है।

राजा द्रुपद ने बदले की भावना से अग्नि देवता की पूजा की, जिस में उसे द्रोण को मारने के लिए पुत्र की प्राप्ति हुई और साथ मे द्रोपदी भी प्राप्त हुई। महाभारत में द्रोपदी की क्या भूमिका थी, यह सभी जानते है, इसलिये जब परमात्मा को छोड़ कर देवताओं की पूजा भी गलत कामना के साथ की जाती है तो वह भी कुछ देगा तो कुछ हर भी लेगा।

व्यवहारिक जीवन मे हमारी श्रद्धा किस प्रवृति के लोगो से साथ है, हमारे आदर्श कौन लोग है, किन राज नेताओ को और क्यो हम समर्थन करते है, कितने सामाजिक संस्थाओं से हम जुड़ कर समाज का काम कर रहे या समाज मे सिर्फ नाम और अपनी कामनाओं की पूर्ति कर रहे है, यह सब मनुष्य श्रद्धा एवम उस की प्रवृति पर निर्भर है। क्योंकि जिन सामाजिक मूल्यों को मनुष्य अपने आदर्श मानता है वो उसी के अनुसार संसार को पूजता है।

जैसा इष्ट वैसी गति – ईश्वर का कथन के जो जिस भाव से मुझे और जिस रूप में मुझे पूजता है, मैं उसे उसी के अनुरूप कामना की पूर्ति हेतु गति एवम फल प्रदान करता हूँ। परमात्मा का यह भी कहना है कि जो मनुष्य मुझे जिस सात्विक, राजसी या तामसी स्वरूप में श्रद्धा के साथ पूजना चाहता है, मैं उस की श्रद्धा को भी उसी स्वरूप में स्थिर कर देता हूं फिर वह अपनी श्रद्धा के अनुसार उस देवता के सामर्थ्य के अनुसार फल भी प्राप्त करता है। अर्थात जैसी करनी – वैसी भरनी। तुलसीदास जी ने कहा है " इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना।। आवत देखिहिं विषय बयारी। ते सखि जेहिं कपाट उधारी ।।

आज के युग में इसी प्रकार के लोग अधिक है, उन श्रद्धा और विश्वास के कारण कोई भी कहानी और कथा या चित्र को बना कर प्रभावित करता है और यह उस चित्र, कथा या कहानी पर विश्वास बिना विचारे करते हुए, अपनी पूजा – अर्चना करते है। सोशल मीडिया पर भगवान के फोटो का, कहानियों, पुराणिक कथाओं की भरमार है, जिस की सत्यता कोई नही परखता और अपनी श्रद्धा से उसे फॉरवर्ड करता रहता है। इन की इसी श्रद्धा को सात्विक, राजसी और तामसी बता कर उस से होने वाले प्रभाव को बताया गया है।

किंतु आज सात्विक होने से अधिक सात्विक दिखने का प्रयत्न दिखाने के लिए, जो मनुष्य अधिक सोशल मीडिया या समाज में कार्य करता है या अब तक हम ने उन मनुष्यों की बात बतायी, जो शास्त्रविधि को न जानने के कारण उसका (अज्ञतापूर्वक) त्याग करते हैं परन्तु अपने इष्ट तथा उसके यजनपूजन में श्रद्धा रखते हैं। अब, विरोधपूर्वक शास्त्रविधि का त्याग करने वाले श्रद्धा रहित मनुष्यों की क्रियाओं का वर्णन आगे के दो श्लोकों में पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.04।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.5॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।

दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥

"aśāstra-vihitaṁ ghoraṁ

tapyante ye tapo janāḥ

dambhāhaṅkāra-saṁyuktāḥ

kāma-rāga-balānvitāḥ"

भावार्थ :

जो मनुष्य शास्त्रों के विधान के विरुद्ध अपनी कल्पना द्वारा व्रत धारण करके कठोर तपस्या करतें हैं, ऐसे घमण्डी मनुष्य कामनाओं, आसक्ति और बल के अहंकार से प्रेरित होते हैं। (५)

Meaning:

Those people who perform horrible austerities that are shunned by laws of scripture, entrenched in ostentation and pride, possessed with the force of desire and attachment.

Explanation:

Let us imagine that you are attending a class on basic electronic circuits. It is your first day in the electronics lab. If you have a good teacher, chances are that they will not start day one of the class with the topic of electronics itself. They will probably talk about the dos and donts of handling electronics equipment. This is because they have your safety and the safety of other students in mind. Shri Krishna, teacher extraordinaire, uses this shloka and next to give us a warning before delving into the topic of analyzing the texture of our faith.

This warning is very simple. Any time we see people abuse and torture themselves or others in the name of devotion, physically or mentally, we need to stay away from such people. Or, in the rare chance that we have been misguided by someone to do such things, we should immediately stop. Such torture could be something as basic as denying oneself food and water to the detriment of one's health, or could be as terrible as poking and prodding oneself with pins and needles. None of this is sanctioned by any scripture.

So why would someone perform such painful austerities? Shri Krishna says many of these people have some misguided pride about some body-oriented feat such as walking on hot charcoals. They want to put on a show so that they can satisfy the urge of ostentation, to show off their feats. Some others become so attached a worldly goal that they take on vows of incessant fasting without taking their health into consideration. Broadly speaking, such people do not gain their result, and end up harming themselves and others around them.

।। हिंदी समीक्षा ।।

विद्या ददाति विनयम। किन्तु जब शास्त्रों का अध्ययन नहीं हो एवम किसी ज्ञानी गुरु की कृपा न हो तो मनुष्य समय के साथ व्यक्तिगत अनुभव, संगत, एवम परिस्थितियो में अपने अंदर सर्वश्रेष्ठ होने का दम्भ भरने लगता है। यही दम्भ एवम अहंकार से वह पूजा की विधि एवम तप के विधान का निर्माण भी अपनी कामना, आकांक्षा और स्वार्थ के अनुसार करने लगता है जिस में सिवाय शारीरिक कष्ट एवम हठ द्वारा शरीर को अधिक से अधिक कष्ट देने के अतिरिक्त कुछ नही होता। यह प्रक्रिया भी कुछ न कुछ पाने के लिये ही होती है। इसलिये काम, क्रोध एवम मोह से वह कठिनतम तप कुछ सिद्धियां या वरदान प्राप्त करने के लिये करता है जिस उद्देश्य जीव में अपने अहम को संतुष्ट करने और सांसारिक सुखों का भोग करना और जगत में सभी को पीड़ा देना।

वस्तुतः जो अपनी सुविधा के अनुसार समय, स्थान, विधि या ज्ञानी पुरुष के संरक्षण को छोड़ कर पूजा, पाठ आदि किसी भी कार्य की प्राप्ति के करता है उस में उस का अहंकार होता है। इस में यज्ञ, पूजा, मंत्र पाठ, भजन, कीर्तन, तप आदि सभी धार्मिक प्रक्रिया है। क्योंकि यह सब शास्त्रोचित नही होती, इसलिए इन का फल भी राजसी या तामसी अर्थात सांसारिक भोग विलास के लिए ही होता है। आज के समय में भागवद पुराण का पाठ करते समय जो प्रेम, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिए, उस की जगह भागवद पुराण को कितना भव्य, कितने स्वांग और कितने भोग और चढ़ावे से देखा जाता है। उस को सुनने वाला भी सामाजिक दायित्व के आधार पर सुनता है। व्रत – उपवास रखने वाला या तो कुछ नही खाता या अन्य उपलब्ध में अधिक खा लेता है। सुनाने वाला भी अपना दायित्व व्यवसायिक की भांति निभाता है। इस सब प्रक्रिया को तामसी नही कह सकते क्योंकि इस में किसी को अहित पहुंचाने की नही होती, किंतु शास्त्र विधि से परे सुविधा विधि की होने से राजसी होती है। कथा समाप्ति पर कथा सफलता पूर्वक करवाने का गर्व हो जाता है।

शास्त्र के अनुसार तप न करते हुए हठ योग से अधिक से अधिक कष्ट दायक तपस्या या व्रत किसी वरदान या सुख की आकांक्षा से करना भी इसी श्रेणी में है। पुराणों एवम ग्रंथो में इस आसुरी प्रवृति के अनेक राक्षसों का वर्णन है जिन्होंने अत्यंत कठिन शारीरिक तप कर के वरदान लिये और अपने सुखों के संसार मे उत्पाद मचाया।

इन मनुष्यो में दम्भ एवम अहंकार इतना अधिक होता है कि यदि कोई इन को समझाए या कुछ ज्ञान दे, तो उस की बात को नकार देते है एवम अपने आचरण, तरीके एवम विचारधारा को ही सही मानते है। बिना ज्ञान के अज्ञान का पता नही चलता, इसलिये अज्ञानी पुरुष ज्ञान के अभाव में अज्ञान को ही अपना सर्वश्रेष्ठ ज्ञान मान कर बुद्धि और विचार के सब मार्ग बंद कर के मन एवम कामना के अनुसार चलते है। क्योंकि यह लोग अपने को श्रेष्ठ समझते है तो पंडितो से अपनी इच्छा अनुसार कार्य करने के लिए यदि शास्त्र के अनुसार योग, समय या स्थान या व्यक्ति अनुकूल न भी हो तो उस का मार्ग धन, पद, और अज्ञान से माध्यम से इस प्रकार स्थित करते है, मानो उन से अधिक ज्ञानी और शास्त्रोचित कार्य करने वाला कोई और नहीं है।

इसलिए जो मनुष्य, शास्त्र में जिस का विधान नहीं है ऐसा, अशास्त्रविहित और घोर अर्थात् अन्य प्राणियों को और अपने शरीर को भी पीड़ा पहुँचानेवाला, तप, दम्भ और अहंकार, इन दोनों से युक्त होकर तथा कामना और आसक्तिजनित बल से युक्त होकर, अथवा कामना, आसक्ति और बल से युक्त होकर तपते हैं। अधिकांश मनुष्य

तो राजसी और तामसी निष्ठावाले ही होते हैं।उनके भीतर यह बात गहरी बैठी हुई रहती है कि आज संसार में जितने भजन, ध्यान, स्वाध्याय आदि करते हैं आदि है, उस का शास्त्रों में जो वर्णन है वह कोई प्रामाणिक विधिवत नही है, उसे वे जिस स्वरूप में चाहे कर सकते है। वे सब दम्भ करते हैं, दम्भ के बिना दूसरा कुछ है ही नहीं। अतः वे खुद भी दम्भ करते हैं। उनके भीतर अपनी बुद्धिमानी का, चतुराई का, जानकारी का अभिमान रहता है कि हम बड़े जानकार आदमी हैं हम लोगों को समझा सकते हैं, उन को रास्ते पर ला सकते हैं हम शास्त्रों की बातें क्यों सुनें हम कोई कम जानते हैं क्या हमारी बातें सुनो तो तुम्हारे को पता चले आदिआदि।

संक्षेप में हम यह कह सकते है कि अज्ञान या अल्प ज्ञान का अभिमान या गर्व अधिक स्वभावतः होता है कि उस से अधिक कोई ज्ञानी नही। वह किसी की नही सुनता और मनमानी करने लगता है। उस में किसी के प्रति श्रद्धा या विश्वास भी न होने से, उस का यह अज्ञान ही उसे राजसी या तामसी गुण से मुक्त नहीं होने देता।

उन्हें विद्या के ज्ञान के अभाव में मुक्ति या मोक्ष का अर्थ या लक्ष्य नही ज्ञात होता। उन के कार्य भी निष्काम एवम लोकसंग्रह के नही होते। काम, दम्भ, अहंकार एवम सांसारिक वासनाओं से भरे रहने से उन के कार्य आसुरी सम्पदा के ही होते है।

परमात्मा इन सब के कार्यों को अगले श्लोक में किसी प्रकार का होता है, और अधिक स्पष्ट करते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.05।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.6॥

कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।

मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥

"karṣayantaḥ śarīra-sthaṁ

bhūta-grāmam acetasaḥ

māṁ caivāntaḥ śarīra-sthaṁ

tān viddhy āsura-niścayān"

भावार्थ :

ऐसे भ्रमित बुद्धि वाले मनुष्य शरीर के अन्दर स्थित जीवों के समूह और हृदय में स्थित मुझ परमात्मा को भी कष्ट देने वाले होते हैं, उन सभी अज्ञानियों को तू निश्चित रूप से असुर ही समझ। (६)

Meaning:

The collection of elements situated in the body, as well as me who dwells in the body, are weakened by ignorant people. Know them to be of devilish resolves.

Explanation:

Let's say it is the first day of the new year, and we make a resolution to lose some weight. The very next day, we join a gym for the very first time, and spend one hour running on the treadmill. This will not be a good idea. Instead of helping our body, we may harm it. Weight loss, like any other system, requires a combination of knowledge and action. Unless we understand the techniques involved in weight loss, we should avoid starting an exercise regimen.

A similar state is found in some people who practice terrible austerities in the name of worship. Shri Krishna explains their fate here. He says that those who torture the body and mind in the name of austerity are doing nothing but weakening the elements, meaning the organs, in their body. Nowhere in the scriptures does it ask us to harm our body. He goes one step further by asserting that such people are also hurting Ishvara himself. As we saw in the ninth chapter, Ishvara dwells in all of us as the saakshi, the witness of our thoughts and actions.

Shri Krishna calls such people achetesaaha which means ignorant, or even unconscious. They chose to ignore Ishvara's teaching in the form of scriptures. They do not have faith in any ideal except their own preservation. They are driven only by egoism and desire. It is no wonder that their plans, their resolves, will be aasuric or devilish, as explained in the prior chapter. So the warning to us is clear. As we are conducting the analysis of our faith, we should in no way emulate these people. We should stay away from them.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व के अध्याय में हम ने पढ़ा था कि प्रकृति एवम जीव अर्थात परा एवम अपरा प्रकृति की सृष्टि का आधार है। जीव परमात्मा का अंश है अतः वह पूर्णतः साक्षी, अकर्ता एवम असंग है। जो भी क्रियाएं होती है वो प्रकृति द्वारा ही होती है और जब जीव भ्रमित हो कर स्वयं को कर्ता मान लेता है तो वह प्रकृति के अधीन कार्य करने लगता है। परमात्मा प्रत्येक जीव के हृदय में जीवात्मा के स्वरूप में उपस्थित है।

अल्पज्ञान होना स्वाभाविक प्रकृति है, किंतु अल्पज्ञान के साथ अभिमान होना और किसी की सलाह न मानना अस्वाभाविक क्रिया है। अतः जो अल्पज्ञानी ज्ञानी की बात नही मानता, वो वह व्यक्ति है जो बीमार हो कर डॉक्टर की नही मानता, आय अर्जित करते समय देश और समाज के नियम नही मानता या समाज में रहते हुए, देश की सरकार का नियम नही मानता। नतीजा शारीरिक और मानसिक कष्ट स्वयं को होता ही है, साथ रहने वालो को भी। परमात्मा का कहा है, वह मुझे भी जो मैं उस के हृदय में रहता हूं, कष्ट देता है। स्वस्थ मन और शरीर प्रकृति का प्रथम नियम है, जो मनमानी तरीके से उपवास, तप करते हुए कष्ट उठा कर, परमात्मा को प्रसन्न करने में लगे है, वे वास्तव में उसे कष्ट ही दे रहे है। अतः शास्त्र का ज्ञान न रखने वाले दम्भ एवम अहंकार में अपने ही मन मर्जी से शरीर को कष्ट देते हुए तप करता है तो यह परमात्मा को ही कष्ट देने के अनुरूप है।

परमात्मा कहते है कि वे अविवेकी मनुष्य, शरीर में स्थित इन्द्रियादि करणों के रूप में परिणत भूतसमुदाय को और शरीर के भीतर अन्तरात्मारूप से स्थित, उन के कर्म और बुद्धि के साक्षी, मुझ ईश्वर को भी, कृश (तंग) करते है। मेरी आज्ञा को न मानना ही मुझे कृश करना है इस प्रकार मुझे कृश करते हुए, घोर तप करते हैं। उन को तू आसुरी निश्चयवाले जान। जिनका असुरोंका सा निश्चय हो, वे आसुरी निश्चयवाले कहलाते हैं। उनका सङ्ग त्याग करने के लिये तू उन को जान, और इसे मेरा उपदेश मान।

इसका आशय यह है कि ऐसे साधकों के हृदय में आत्मचैतन्य अपने पूर्ण वैभव एवं सौन्दर्य के साथ व्यक्त नहीं हो पाता। घोर कष्टदायक तप मूढ़ता का लक्षण है, जिस की यहाँ निन्दा की गई है। विवेकपूर्ण संयम तप कहलाता है, न कि निर्मम शारीरिक पीड़ा।

तप अपने अंदर के काम, क्रोध और मोह को गलाने के लिये होता है, यह मोक्ष या मुक्ति का मार्ग है अतः अनावश्यक उपवास, उल्टे–सीधे या कांटो पर लेटना या हट योग करना शास्त्र सम्मत नही है। तप तो ज्ञान का, मुक्ति का, सद्चिदानन्द का मार्ग है, अज्ञान में तो कामना रखते हुए तप करना आसुरी सम्पदा में कदम रखना ही होगा।

सोलहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में शास्त्रविधि को जानते हुए भी उस की उपक्षा कर के दानसेवा, उपकार आदि शुभकर्मों को करने की बात आयी है, जो इतनी बुरी नहीं है क्योंकि उनके दान आदि कर्म शास्त्र विधियुक्त तो नहीं हैं, पर शास्त्रनिषिद्ध भी नहीं हैं। परन्तु यहाँ जो शास्त्रों में विहित नहीं हैं, उन को ही श्रेष्ठ मानकर मनमाने ढंग से विपरीत कर्म करने की बात है। दोनों में फरक हम दम्भ, कामना एवम अहंकार द्वारा शारीरिक कष्ट देने कर सकते है। इन लोगों को सिद्धि, सुख और परमगति नहीं मिलती।

यह स्पष्ट है कि शास्त्र ज्ञान या गुरु के अभाव में मनुष्य जो कुछ भी करता है वो उस के दम्भ एवम अति आत्मविश्वास से करता है, जो लाभदायक कम नुकसानदायक ज्यादा होता है। जैसे जिस ने ड्राविंग क्लास नही लगाई और न ही कार चलाने का प्रशिक्षण लिया है और आत्मविश्वास ले कर कार चलाने लगे तो निश्चित ही दुर्घटना को ही आमंत्रण होगा।

अतः तामसी वृति के इन अहंकारी मनुष्य को भगवान ने असुर तक की संज्ञा दे दी है। रावण ने अपने सर को काट काट कर शिव को समर्पित करते हुए, अनेक शारीरिक कष्ट के साथ तप किया। किंतु उस का तप शास्त्र के अनुकूल न होने से भी शिव और ब्रह्मा से वरदान पा कर भी अहंकार के कारण वह असुर ही रहा। यद्यपि उस का जन्म उच्च कुल में भी हुआ था। इसलिए शक्ति प्राप्त करने के बाद वह हत्या, अपने राज्य के विस्तार एवम सुख भोग की ओर लालायित रहता था।

व्यवहार में कुछ मनुष्य तप आदि की ऐसी विधियों को इजाद कर लेते है, जिस से वह अपने राजनैतिक, सामाजिक और व्यवसायिक स्वार्थ की पूर्ति कर सके, जैसे संगीत और गीत के विवाह वेदी पर मंत्रोपचार, श्रीमद भा में तरह तरह के नाच गान, किस्से कहानियां एवम नाटक आदि। इसे आध्यात्मिक उन्नति या सात्विक वृति से कार्य न हो कर राजनैतिक या सामाजिक उद्देश्य की अधिक पूर्ति होती है। इस से सुनने और सुनाने वालो के गर्व, अहंकार, काम और भोग के प्रति आसक्ति की पूर्ति होती है। यह शास्त्र विहीन कार्य ही असुर प्रवृति कहा गया है। क्योंकि यह हृदय में स्थित परमात्मा को भी कष्ट देने वाला है।

क्या हम यह मान ले कि भजन, कीर्तन, कथा – प्रवचन, तप – उपवास असुर वृति है, तो यह गलत होगा। परमात्मा यह समस्त कार्य ज्ञानी पुरुषो के निर्देश एवम दंभ और अहंकार को त्याग कर सात्विक तरीके से करने को कहते है। जिसे से मनुष्य काम, क्रोध और लोभ से दुर्गुणों से बचा रहे, उस का आध्यात्मिक विकास हो, भजन चैतन्य महाप्रभु, मीरा और रविदास जी भी करते थे, किंतु उन में दिखावा या अहंकार की जगह विनम्रता थी। कथा डोंगरे महाराज भी करते है किंतु उन्हें भव्यता या पंडाल की सुविधा की शर्त नही थी। प्रवचन रामसुखदास जी भी देते थे, किंतु उन्हें कोई धन या प्रसिद्धि की लालसा नहीं थी। किसी के धार्मिक कृत्यों के प्रति उपेक्षा या तिरस्कार भाव का रखना भी अज्ञान और दंभ है, यदि उस भाव में अहंकार या अपने ज्ञान के प्रदर्शन का दंभ हो। इसलिए जो व्यक्ति शास्त्र विहित तप, भजन, कीर्तन, उपवास या कथा कीर्तन करते है, उस में सदगुणी हमेशा अपने स्वभाव और गुण से उस का लाभ ग्रहण करते है, वे आलोचना नहीं करते।

स्वस्थ मन में स्वस्थ विचार और ज्ञान का निवास है। तप, उपवास, आदि में न खाना, या असंतुलित भोजन खाना, सामान्य जीवन में गरिष्ठ या सुपाच्य भोजन खाना, निषिद्ध भोजन को खाना, शरीर को बीमार, अशक्त, निकम्मा कर देना, उस देवताओं और प्रकृति का अपमान है, जिन्होंने किसी को अपने योग्य शरीर दे कर प्रकृति का आनंद लेते हुए, कर्म करने को जन्म दिया है। इसलिए अगर कोई मनुष्य किसी प्रकार भी यजन न करे, तो उसकी श्रद्धा कैसे पहचानी जायगी, इसे बताने के लिये भगवान् आहार की रुचि से आहारी की निष्ठा की पहचान का प्रकरण आगे पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत।।17.06।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.7॥

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ।

यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं श्रृणु ॥

"āhāras tv api sarvasya

tri-vidho bhavati priyaḥ

yajñas tapas tathā dānaṁ

teṣāṁ bhedam imaṁ śṛṇu"

भावार्थ :

हे अर्जुन! सभी मनुष्यों का भोजन भी प्रकृति के गुणों के अनुसार तीन प्रकार का प्रिय होता है, और यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकार के होते हैं, इनके भेदों को तू मुझ से सुन। (७)

Meaning:

Food, also, which is dear to all, is of three types, and similarly, sacrifice, penance and charity. Hear this, their distinction.

Explanation:

Shri Krishna now begins to explain the method by which we can analyze the texture or the nature of our faith. The principle here is to assess the attitude with which we perform actions. The type of attitude maintained while performing an action will reveal whether our faith is saatvic, raajasic or

taamasic. Shri Krishna covers the entire spectrum of actions performed by us with just four categories: our intake of food, sacrifice, penance and charity. To better understand these categories, we need to understand the underlying symbolic meaning.

We have come across broader meaning of the term yajnya or sacrifice in karma yoga. It refers to any action or transaction with another person or object while adhering to our duty. If we are an accountant by profession, then earning a livelihood as an accountant becomes a yajyna or sacrifice. Next, tapas or penance is the means by which we conserve energy needed to perform our duties. A scientist will give up innumerable opportunities to party because he is performing an experiment in his lab in the night. This is penance. Daanam or charity refers to the donation of excess wealth accumulated while performing our duties. The act of charity helps reduce our level of lobha or greed.

The intake of food or aahaara is given its own category. It different than sacrifice, penance or austerity for a couple of reasons. Any action performed towards feeding the body gives its phala, its result, immediately. But any other type of action gives its result much later. Furthermore, the result of feeding our body is restricted to the body, not to anything or anyone else. That is why people who are very diligent in their duties can become lax in their dietary habits. Food is analyzed in great detail in the next three shlokas.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में जो लोग शास्त्र को अध्ययन नही करते एवम उन्हें शास्त्र ज्ञान न होने से उन की श्रद्धा को स्वभावजा अर्थात अन्तःकरण में अनुभव, संगत एवम कामनाओं से जनित सात्विक, राजसी एवम तामसी हम ने पढ़ा। इसी प्रकार यह लोग किस प्रकार अपने आराध्य का चयन करते है, उस से भी इन के प्राकृतिक गुणों को जाना।

अब आगे परमात्मा कहते है मनुष्य जिस प्रकार का आहार ग्रहण करता है, उस के अनुरूप की उस के अन्तःकरण में प्रभाव पड़ता है। जैसे कहा भी जाता है यथा अन्न–तथा मन। अन्न के शुद्ध एवम सात्विक होने से ही अन्तःकरण में भी भाव, विचार एवम स्वभाव और उस से आचरण भी बनता है। अतः भोजन भी सात्विक–राजसी एवम तामसी होता है।

गीता में आहार को यद्यपि अर्जुन द्वारा नहीं पूछा गया था, फिर भी इस का वर्णन करना अनिवार्य था। मनुष्य का शरीर प्रकृति के नियम के अनुसार जन्म से वृद्धि और क्षय को प्राप्त होता है। इस को निरंतर कार्य करने के लिए जल, वायु, भूमि अर्थात प्रकृति से प्राप्त खनिज, विटामिन और अन्य तत्व की आवश्यकता होती है, जिस से खून,

मांस, मज्जा, हड्डियां आदि बनती और बनी हुई रहती है, एवम कार्य करने के लिए ऊर्जा अर्थात शक्ति मिलती है। इस शक्ति का उपयोग ही मन इंद्रियों द्वारा बुद्धि के निर्देश पर करता है। यह शक्ति या ऊर्जा ग्रहण किए हुए भोजन के प्रकार से अलग अलग प्रकार की होती है। इसलिए जो भोजन हम करेंगे, जिस वातावरण में हम रहेंगे या जिस जल का हम उपयोग करेंगे, हमारी मन की स्थिति भी वैसी होगी। इस लिए श्रद्धा के सात्विक, राजसी और तामसी गुणों पर भोजन के भी तीन गुणों का प्रभाव पड़ता है। यही मन जब जिस भी स्थिति में कार्य करता है उसी का प्रभाव हमारे यज्ञ, तप और दान पर भी पड़ता है। इसलिए आहार से मनुष्य का जीवन चक्र भी निर्धारित होता है।

रसयुक्त और स्निग्ध आदि भोजनों में, अपनी रुचि की अधिकता रूप लक्षण से अपना सात्त्विकत्व, राजसत्व और तामसत्व जान कर, राजस और तामस चिह्नों वाले आहार का त्याग करते हुए, सात्त्विक चिह्न युक्त आहार का ग्रहण करना चाहिए। यहाँ रस्यस्निग्ध आदि तीन वर्गों में विभक्त हुए आहार में, क्रम से सात्त्विक, राजस और तामस पुरुषों की (पृथक्पृथक्) रुचि के बारे में बताया गया है।

जैसे आहार तीन तरह का प्रिय होता है,इसी तरह शास्त्रीय यज्ञ, तप एवम दान आदि कर्म भी तीन तरह के होते हैं।

तात्पर्य यह कि सात्त्विक मनुष्यों की रुचि सात्त्विक खानपान, रहनसहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदि में होती है और उन्हीं का सङ्ग करना उन को अच्छा लगता है। राजस मनुष्यों की रुचि राजस खानपान, रहनसहन, कार्य, समाज, व्यक्ति आदि में होती है और उन्हीं का सङ्ग उन को अच्छा लगता है। तामस मनुष्यों की रुचि तामस खानपान, रहनसहन आदि में तथा शास्त्रनिषिद्ध आचरण करनेवाले नीच मनुष्यों के साथ उठने बैठने, खाने पीने, बातचीत करने, साथ रहने, मित्रता करने आदि में होती है और उन्हीं का सङग उन को अच्छा लगता है तथा वैसे ही आचरणों में उनकी प्रवृत्ति होती है।

मनुष्य का स्वभाव उसके कार्यकलापों में व्यक्त होता है। उस का प्रिय आहार, मित्रगण, मन की भावनाएं, जीवन विषयक दृष्टिकोण आदि उसके स्वभाव की श्रेणी को इंगित करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी गुण विशेष के आधिक्य से प्रभावित रहता है।मनुष्य का आन्तरिक स्वभाव तथा बाह्याचरण पर किस गुण की अधिकता से किस प्रकार का प्रभाव पड़ता है इसका विश्लेषण आगे के श्लोकों में किया गया है। यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इन श्लोकों का प्रयोजन अन्य लोगों का वर्गीकरण करने के लिए नहीं हैं। हिन्दू धर्म आत्मविद्या का उपदेश देता है। अत साधक का प्रयत्न अपने आत्मस्वरूप को अभिव्यक्त करने के लिए होना चाहिए। आत्मा के सौन्दर्य को व्यक्त करने एवं आत्मिक बल को प्राप्त करने के लिए समस्त साधकों को चित्त शुद्धि के हेतु प्रयत्न करना होगा। चित्तशुद्धि का अर्थ है, रजोगुण के विक्षेप तथा तमोगुण के प्रमाद और मोह का त्यागकर सत्त्वगुण की रचनात्मक सजगता और आध्यात्मिक आभा में मन की दृढ़ स्थिति।

इंद्रिय, मन और बुद्धि एवम चैतन्य का योग अर्थात एक सूत्र में पिरोना ही संयम है। यह संयम हम योगाभ्यास, ध्यान, धारणा और समाधि से प्राप्त करते है। पतंजलि योग सूक्तम में ध्यान लगाने के स्वस्थ शरीर पर जोर देते

हुए प्रथम सोपान में योग की बात कही है, पंच महाभूत का शरीर ही साधन है जिस से यह कार्य किया जा सकता है। इसलिए स्वस्थ शरीर के लिए आहार भी वैसा होना चाहिए। इसी आहार को प्रकृति के तीन गुणों के आधार पर वर्गीकृत किया गया है जो बनाने वाले की मन स्थिति, उस के साधन और स्थान, समय, मात्रा के अतिरिक्त उन पदार्थ को भी वर्गीकरण में सम्मिलित करता है। आहार मुंह से लिया ही जाता है किंतु मन और बुद्धि का आहार नाक, कान और नेत्रों से श्रवण, अध्ययन, मनन और ध्यान और योग से भी लिया जाता है।

सर्व प्रथम आहार के साथ जुड़े प्रकृति के सात्विक– राजसी– तामसी गुणों के बारे में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।।17.07।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.8॥

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।

रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥

"āyuḥ-sattva-balārogya-

sukha-prīti-vivardhanāḥ

rasyāḥ snigdhāḥ sthirā hṛdyā

āhārāḥ sāttvika-priyāḥ"

भावार्थ :

जो भोजन आयु को बढाने वाले, मन, बुद्धि को शुद्ध करने वाले, शरीर को स्वस्थ कर शक्ति देने वाले, सुख और संतोष को प्रदान करने वाले, रसयुक्त चिकना और मन को स्थिर रखने वाले तथा हृदय को भाने वाले होते हैं, ऐसे भोजन सतोगुणी मनुष्यों को प्रिय होते हैं। (८)

Meaning:

Food that enhances longevity, mind, strength, health, happiness and joy, that which is juicy, oily, stable and pleasant, is dear to one who is saatvic.

Explanation:

The Chhandogya Upanishad describes the impact of food on our personality. It says that the food we eat is divided into three parts. Majority of what we eat is rejected by the body. The second part is used to build the bones, muscles, skin, organs and so on. The third part, the most subtle part goes into the antaha karana, comprising of the emotional mind, the intellectual mind, memory and senses. In other words, the food we eat impacts our personality in a multitude of ways.

Shri Krishna says that the type of food we eat can point to the texture of our faith. He lists the characteristics of food that is consumed by a saatvic person. Saatvic food promotes aayu or longevity. It improves the quality of thoughts in our mind. It improves our strength and our health, since it provides essential nutrition to the body. We have happiness while we are eating it, and joy after we have eaten it. It does not cause any regrets while eating it, or after eating it.

What does such saatvic food taste like? It is juicy, like a succulent fruit. It is not dry, it has just the right amount of fat and oil, like almonds. It is stable, it provides long term benefits to the body, long after having consumed it. It is hridyaa which means pleasant. One does not have to cultivate a special taste for it since it is agreeable to all. Another meaning of hridyaa is medicinal. Such food can be digested easily when our power of digestion is low, and can also help in the healing process.

।। हिंदी समीक्षा ।।

सात्विक भोजन के गुणों का वर्णन करते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है जो भोजन आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख एवम प्रीति बढ़ानेवाला, रसयुक्त, चिकना, स्थिर एवम हृदय को प्रिय लगे वही सात्विक भोजन है।

आध्यात्मिक प्रवृत्ति के सात्त्विक पुरुषों को स्वभावत वही आहार रुचिकर होता है, जो आयुवर्धक हो, न कि केवल शरीर को स्थूल बनाने वाला आहार। आहार ऐसा हो, जो ध्यानाभ्यास के लिए आवश्यक ओज प्रदान करे तथा विषयों के प्रलोभनों से अविचलित रहने के लिए बल की वृद्धि करे। अरोग्यवर्धक आहार सात्त्विक पुरुष को प्रिय होता है। उसी प्रकार प्रीति और मन की प्रसन्नतावर्धक आहार सात्त्विक कहलाता है। भोज्य पदार्थों के गुणानुसार यहाँ उन्हें चार भागों में वर्गीकृत किया गया है। वे हैं रस्या रसयुक्त, स्निग्ध चिकनाई से युक्त, स्थिर और मनप्रसाद के अनुकूल हृद्या। हृधा अर्थात जो भोजन हृदय, यकृत, फेफड़े, गुर्दा, अमाशय एवम मांस, मज्ज़ा, हड्डियों के अनुकूल हो। सात्त्विक पुरुषों को ऐसे समस्त पदार्थ स्वभावत प्रिय होते हैं, जो उपर्युक्त गुणों से युक्त होते हैं

अर्थात् आयुबलादि विवर्धक होते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भोक्ता पर भोजन का प्रभाव पड़ता है। सामान्यत, मनुष्य जिस प्रकार का भोजन करता है, वैसा ही प्रभाव उसके मन पर पड़ता है। उसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव उसके आहार की रुचि को नियन्त्रित करता है। यह देखा जाता है कि प्राणीमात्र की किसी विशेष परिस्थिति में किसी आहार विशेष की तीव्र इच्छा होती है। कुत्ते और बिल्ली रोगादि के कारण कभी कभी घास खाने लगते हैं, गाय लवण को चाटती है, छोटे बालक मिट्टी खाते हैं और गर्भवती स्त्रियों को खटाई आदि खाने की तीव्र इच्छा होती है।

भोजन प्रत्येक मनुष्य समय, स्थान, वातावरण एवम उपलब्धता के आधार पर अपने व्यक्तिगत संरचना के आधार पर करता है, अतः किसी खाद्य विशेष को सात्विक कहना या राजसी या तामसी कहना गलत होगा। भोजन प्रदेश, स्वास्थ्य एवम शरीर की आवश्यकता के अनुसार ही होना चाहिये जिस से मनुष्य निष्काम भाव से अपने कर्म को कर सके। आराधना करने वाले पुजारियों के लिए जहां मांस–मंदिरा त्याज्य है, वही बर्फीली पहाड़ी में खड़े सैनिक के आवश्यक।

अतः जिस भोजन से मनुष्य की प्रकृति में विकार पैदा न हो, बल बुद्धि का विकास हो एवम जो प्रकृति, वातावरण एवम परिस्थितियो के अनुसार उपलब्ध हो वही भोजन उचित मात्रा में सात्विक है।

दूध, चीनी आदि रस्या पदार्थ होते है, मक्खन, तैल, घी आदि चिकने स्निग्धा पदार्थ कहलाते है एवम जो लंबे समय तक शरीर मे भोज्य के लिये प्रोटीन वाले आहार होते है उन्हें स्थिरा कहते है।

भोजन जीवन की आवश्यकता है क्योंकि यह पंच तत्व के शरीर का ईंधन है। भोजन जीने के लिए एवम अपने कर्मो को करते रहने के लिये किया जाता है, न कि भोजन के लिये जीवन जिया जाता है। अतः अनावश्यक एवम अति भोजन नहीं होना चाहिये।

भोजन स्वयं में सिद्ध नही है, इस के भोजन ग्रहण करने वाले की मानसिकता, वातावरण, भोजन ग्रहण करने का समय भी उतना ही महत्वपूर्ण है। सूरदास दास जी कहा है "अरु भोजन सो इहि विधि करै। आधौ उदर अन्न सौ भरै।। आधे में जल वायु समावै। तब तिहिं आलस कबहूं न आवै।।" अर्थात भोजन स्वच्छ स्थान पर, सही तरीके से बैठ कर, भोजन से पूर्व हाथ पांव धो कर करना चाहिए। भोजन ताजा, उचित मात्रा में गर्म, सही साफ तरीके से परोसा हुआ हो और सभी खाने की वस्तुओं की पर्याप्त मात्रा हो। भोजन भूख के अनुसार आधा उदर अर्थात जितनी भूख है, उस का आधा पेट ही करना चाहिए और आधा पेट जल, वायु और पचाने के रखना चाहिए। भोजन नियत समय पर दिन में तीन या अधिक से अधिक चार बार ही होना चाहिए। सात्विक मन स्थिति एवम मन की स्थिरता होना भी आवश्यक है। खिन्न मन से किया भोजन लाभ नहीं देता।

गैहूं, चावल, साठी का चावल, जौ,श्यामक, निवार आदि, दूध, दही, घी, मिश्री, मधु, सांठ, परवल, दाल आदि चंद उदाहरण सात्विक आहार है, जिन को उचित तरीके से पकाया हुआ, कम तीखा एवम कम मसाले वाला योगी लोगो का आहार होता।

संक्षेप में हम यह कह सकते है, सात्विक भोजन आयु, बल, बुद्धि, तेज, मानसिक शांति, कार्य क्षमता को बढ़ाने वाला होना चाहिए, न कि जिव्हा के स्वाद को जो रुचिकर कर लगे, वह होना चाहिए। आगे हम राजसी भोजन के विषय को भी पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.08।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.9॥

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।

आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

"kaṭv-amla-lavaṇāty-uṣṇa-

tīkṣṇa-rūkṣa-vidāhinaḥ

āhārā rājasasyeṣṭā

duḥkha-śokāmaya-pradāḥ"

भावार्थ :

कड़वे, खट्टे, नमकीन, अत्यधिक गरम, चटपटे, रूखे, जलन उत्पन्न करने वाले भोजन रजोगुणी मनुष्यों को रुचिकर होते हैं, जो कि दुःख, शोक तथा रोग उत्पन्न करने वाले होते हैं। (९)

Meaning:

Food that is bitter, sour, salty, excessively hot, pungent, dry and burning, are dear to the raajasic person, causing pain, sorrow and disease.

Explanation:

We now examine the characteristics of food that is loved by one whose faith is raajasic. Shri Krishna says that food which has sharp flavours, any food that is excessively bitter, sour, salty, spicy, pungent, dry or causes a burning sensation in the tongue and stomach, all this comes under the category of raajasic food. Now this does not mean all such food is to be avoided. We need to exercise caution when the proportion of these characteristics is "ati" or excessive.

It is quite easy to assess the impact of such food in our system. Consumption of such food causes duhkha or pain, which begins with the mouth and hurts the entire digestive system for a long time. Such food can also have a long term impact on the body in the form of "aamaya" or disease. Since the person has raajasic faith, he will have a strong preference for such type of food, and will feel sorrow if he is unable to obtain such food. In today's age, food that is high in sodium, sugar and oil also comes in this category.

Food, in its broader sense, also refers to the intake of information through the eyes and ears as well. Watching a lot of violent movies and TV, for instance, inflicts pain upon the mind. Many people get addicted to the internet and television, and experience sorrow if they are unable to log on or watch TV, even for a short while. It is no different than a bodily disease. In other words, the kind of television or internet content we consume can also reveal a lot about the texture of our faith.

।। हिंदी समीक्षा ।।

आहार का मुख्य आधार आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ाने वाला होना चाहिये तो इस मे स्वाद को कोई स्थान नहीं दिया है। क्योंकि स्वाद जीभ तक सीमित है जिस का अनुभव मन द्वारा किया जाता है और वह ही भ्रम फैला कर उस तरह की भोजन की कामना उत्पन्न करता है।

परमात्मा कहते है जब भोजन का आधार कड़वे, खट्टे, अधिक नमकीन, अत्यंत गर्म, तीखा, रूखा या दाह कारक हो अर्थात जो क्षार एवम अम्लीय गुण रखते हो तो वह पेट मे अपच पैदा करेगा और फिर उस से दुःख, चिंता एवम रोग उत्पन्न होते है। यहाँ ध्यान रखने की बात है कि अति शब्द सब के साथ जोड़ना चाहिये, जैसे अति कड़वे, अत्यन्त खट्टे, अति तीक्ष्ण इत्यादि। किंतु स्वाद के आनन्द के राजसी प्रकृति के मनुष्य भोजन स्वाद देख कर करते है, उन के किये भोजन की गुणवंता दूसरे स्थान पर रहती है। आहार और अध्यात्म का आपसी तालमेल होने से स्वस्थ शरीर के ध्यान और संयम बढ़ता है। राजसी भोजन करने वाले भोजन को भी भोग और आनंद के लिए ग्रहण करते है, इसलिए उन के अंतकाल में अनेक रोग उन को घेर लेते है।

राजसी भोजन की गुणवंता जीभ के स्वाद तक ही है, इसलिए इस भोजन से दैहिक, दैविक और भौतिक तीनो प्रकार के दुख प्राप्त होते है। शरीर की मानसिक अवस्था स्वस्थ न होने से अध्यात्म नही होता, बीमार रहने इलाज में समय और धन की बरबादी भी होती है।

जो अध्यात्म का मार्ग अपनाते है उनके लिये समय, स्थान और वातावरण के शुद्ध सात्विक शाकाहार ही उपयोगी है जिस से मनोभाव नियंत्रित रहे और आराधना में लगे रहे।

क्रियाशील तथा कामक्रोधादि प्रवृत्ति वाले रजोगुणी लोगों को इस श्लोक में कथित अति कटु अम्ल आदि आहार अत्यन्त प्रिय होता है। ऐसे आहार से वह अपने शरीर में शक्ति का अनुभव तो करता है, परन्तु अन्तत इन सब का परिणाम दुख रोग और चिन्ता ही होता है। इस प्रकार के आहार की रुचि उत्पन्न हो जाने पर उसे संयमित रखना दुष्कर हो जाता है। प्रस्तुत प्रकरण से कोई अध्येता यह न समझ ले कि केवल आहार के परिवर्तन और संयम से ही विचारों का परिवर्तन संभव हो सकता है। भगवान् श्रीकृष्ण का कथन यह है कि सात्त्विक या राजसिक विचारों के लोगों को उपर्युक्त प्रकार के पदार्थ रुचिकर लगते हैं अर्थात् विचारों के परिवर्तन से आहार में परिवर्तन आता है। इसलिये आहार मनुष्य की मानसिक चंचलता एवम विचारों के सयंम का भी प्रतीक है।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.09।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.10॥

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत् ।

उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥

"yāta-yāmaṁ gata-rasaṁ

pūti paryuṣitaṁ ca yat

ucchiṣṭam api cāmedhyaṁ

bhojanaṁ tāmasa-priyam"

भावार्थ :

जो भोजन अधिक समय का रखा हुआ, स्वादहीन, दुर्गन्धयुक्त, सड़ा हुआ, अन्य के द्वारा झूठा किया हुआ और अपवित्र होता है, वह भोजन तमोगुणी मनुष्यों को प्रिय होता है। (१०)

Meaning:

That which is stale, without essence, putrid and is left over, also that which is pre-tasted and impure, such food is dear to the taamasic.

Explanation:

Having covered the characteristics of food dear to saatvic and raajasic people, Shri Krishna now describes the nature of food dear to taamasic people. The first quality he describes is "yaata yaamam". A "yaama" is equal to three hours. So any food that was cooked more than three hours ago is considered "yaata yaamam" or stale. "Gata rasam" refers to food that has lost its essence, its nutritional value, its "rasa". Any junk food or processed food comes under this classification, as does food that has not been fully cooked.

It may surprise us to see Shri Krishna explicitly mention putrid or rotten food in this shloka, since we may think no one would ever eat such food. But there are people in this world who prefer eating food that has an odour to it. He also adds to the list leftover food and food that has already been tasted by someone else. The last item in the list is "amedhyam", which is food that cannot be offered to the deity for worship. He expects us to have the understanding to know what we can offer to the deity and what we should not.

So, having gone through the various characteristics of food in these three shlokas, what is the practical implication for us? The first step towards making our antaha karana saatvic, our intellect, our mind our thoughts saatvic, is to watch what we eat. If we are habituated to eating extremely spicy food, we will not have the stability of mind needed to make other parts of of life saatvic. By slowly adopting food that is predominantly saatvic, we lay the foundation for improving the texture of our entire personality.

।। समीक्षा ।।

सात्विक का पर्याय उच्च गुणवंता, राजसी का मध्यम एवम तामसी का निकृष्ट गुणवंता है। अतः तामसी भोजन का अर्थ जो भोजन मात्र स्वाद, मानसिक अवसाद या असंतुलन की अवस्था में न खाने योग्य निषिद्ध पदार्थों का हो, वही तामसी है।

भोजन लेने का उद्देश्य स्वाद न होकर आयु वृद्धि, मन एवम बुद्धि की शुद्धता एवम संतुलन और शरीर का स्वास्थ्य वर्धन है। अतः जब भोजन बासी, जूठा, अधपक्का, स्वादहीन या दुर्गंध से भरा हो तो वह सात्विक नही हो सकता। इस प्रकार के भोजन को पसंद करने वाले तामसी भोजन को पसंद करने वाले होंगे।

मनुष्य प्रकृति के पंचतत्व से बना। शरीर है अतः अच्छा एवम शुद्ध भोजन ही इस शरीर, मन और बुद्धि को शुद्ध एवम सात्विक बना सकता है। मदिरा- मांस प्राय इसी श्रेणी में आता है क्योंकि यह केवल शरीर के आयुवर्द्धक नहीं होता। इसी प्रकार प्याज-लहसुन जो स्वभावतः ही दुर्गन्धयुक्त होते है, सात्विक आहार में नही प्रयोग होते।

व्यवहारिक दृष्टिकोण से दक्षिण में रात का रखा चावल या उत्तर में रात की रोटी अचार से खाई जाती है। फ्रिज होने से प्राय ताजा भोजन की बजाय बार बार भोजन को गर्म कर के खाते है। अतः जब इसी प्रकार का भोजन जो ताजा न पकाया हो, वह पेट तो भर देता है परंतु आयुर्वेदिक शास्त्र में शरीर के उत्तम नही होता। इसलिये प्रयास हमेशा सात्विक भोजन का ही होना चाहिए जिस से आयु वृद्धि हो, स्वास्थ्य अच्छा रहे एवम मन एवम बुद्धि का विकार रहित विकास हो।

भोजन करने वाले एवम भोजन पकनेवाले के मनोभाव का भी प्रभाव भोजन पर पड़ता है। घर मे माँ, बहन, पत्नी जिस भाव से भोजन बनाती एवम भोजन परोसती है, वह होटल या पार्टी में नही होता, इसलिये घर का खाना ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

परमात्मा ने अमेध्य शब्द द्वारा तामसी भोजन का वर्णन किया है, जो बासी, निषिद्ध, अपवित्र या अस्वस्थ या गन्दगी की अवस्था में व्यक्ति द्वारा बनाया या परोसा गया, दुर्गंध युक्त एवम बासी भोजन आता है। जो भोजन स्वास्थ्य वर्धक न हो, या किसी व्यक्ति विशेष के लिए स्वास्थ्य वर्धक न हो, वह भोजन भी अमेध्य है।

मन और बुद्धि प्रकृति के विकार है, इसलिए जब भोजन सात्विक होगा तो मन और बुद्धि भी सात्विक बन जाती है।

पहले यजनपूजन और भोजन के द्वारा जो श्रद्धा बतायी, उस से शास्त्रविधि का अज्ञतापूर्वक त्याग करने वालों की स्वाभाविक निष्ठा ,रुचि की तो पहचान हो जाती है परन्तु जो मनुष्य व्यापार-व्यवसाय खेती आदि जीविका के

कार्य करते हैं अथवा शास्त्रविहित यज्ञादि शुभकर्म करते हैं, उन की स्वाभाविक रुचिकी पहचान कैसे हो, यह बताने के लिये यज्ञ, तप और दान के तीन तीन भेदों का प्रकरण आगे पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.10 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.11॥

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।

यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः॥

"aphalākāṅkṣibhir yajño

vidhi-diṣṭo ya ijyate

yaṣṭavyam eveti manaḥ

samādhāya sa sāttvikaḥ"

भावार्थ :

जो यज्ञ बिना किसी फल की इच्छा से, शास्त्रों के निर्देशानुसार किया जाता है, और जो यज्ञ मन को स्थिर करके कर्तव्य समझकर किया जाता है वह सात्त्विक यज्ञ होता है। (११)

Meaning:

That which is performed by one without expectation of result, according to scripture, with a mental resolve of duty alone, such sacrifice is saattvic.

Explanation:

So far, Shri Krishna revealed that the type of food we can reveal texture of our faith. He now lists the types of yajnya, the types of sacrificial rituals for worship, so that we can analyze the texture of our faith through them. Yajnyas are extremely elaborate rituals, but can be reduced to three basic components - the offering, the flame and the result. The person conducting the ritual uses items such as oil or butter as an offering to the deity. The deity is represented by the flame that consumes the offering. A yajnya is typically performed with a specific goal or result in mind, such as a longer life, marriage, children, prosperity and so on.

How does this matter to us in today's day and age? Symbolically, yajnya refers to all of our interactions with any entity or object in this world, and comprises of the very same components. First, the offering is the effort we put in to perform an action. This action could be something we perform at our job, for example. Second, the flame represents the recipient of our action. Lastly, the recipient responds to our action in the form of a result, which could e something tangible such as money, or intangible, such as goodwill towards us.

As we saw earlier, three people can perform the same action with three different attitudes of sattva, rajas and tamas. Here, Shri Krishna describes the attitude of a saatvic person. Such a person performs his action driven by a sense of duty to a higher ideal, without any selfish desire. The higher ideal could be service of one's country, for instance. There is no expectation of any result from the recipient of the action. Furthermore, the action is performed in line with a set of selfless laws, such as the law of a country, humanitarian laws, or laws that have come from scripture.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यजन, पूजन और आहार के बाद शास्त्रविहित श्रद्धा को पहचानने के लिये अब यज्ञ अर्थात कर्म को बताते हुए, भगवान श्री कृष्ण कहते है।

तीन प्रकार के यज्ञ बतलाये जाते हैं, फल की इच्छा न करने वाले पुरुषों द्वारा, शास्त्रविधि से नियत किये हुए जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है तथा यज्ञ करना ही यानी यज्ञ के स्वरूप का सम्पादन करना ही कर्तव्य है इस प्रकार मन का समाधान कर के अर्थात् इस से मुझे कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं करना है ऐसा निश्चय कर के जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है। कामना और आसक्ति ही कर्मफल के बंधन का कारक है। जीव के लिए कर्म अनिवार्य है, इसलिए निष्काम भाव में कर्तव्य धर्म का पालन करते हुए, शास्त्र में विहित कर्म करना सात्विक है।

शास्त्रविधि से नियत किया हुआ वेदों में कर्मों का वर्गीकरण चार भागों में किया गया है। (1) काम्य कर्म अर्थात् व्यक्तिगत लाभ को लिए कामना से प्रेरित होकर किया गया कर्म (2) निषिद्ध कर्म (3) नित्य कर्म और (4)

नैमित्तिक अर्थात् किसी निमित्त वशात् करने योग्य कर्म। इन में से प्रथम दो प्रकार के कर्मों को त्यागना चाहिए तथा शेष कर्मों का पालन करना चाहिए। नित्य और नैमित्तिक कर्मों को ही सम्मिलित रूप में कर्तव्य कर्म कहते हैं। सात्विक कर्म कायिक, वाचिक और मानसिक किसी भी स्वरूप में हो सकता है।

सुख – दुख की उपलब्धि का साधन जिन इंद्रियों से हो, उसे मन कहते है, किंतु संकल्प जेड विकल्प करने वाला अंतकरण जिस में किसी भी कामना या आसक्ति न हो, वह भी अंतकरण का मन होता है, निष्काम व्यक्ति निष्क्रिय नही होता, लोकसंग्रह के लिए वह संकल्प साधता है और उस संकल्प की पूर्ति हेतु कर्म पूर्ण दक्षता और कर्मठता से करता है। उस का निष्काम कर्म चरित्र हमे भगवान श्री कृष्ण के जीवन चरित्र से भी सीखने को मिलता है और अनेक उन महापुरूषों, वैज्ञानिकों और दार्शनिक लोगो से भी मिलता है, जिन्होंने समाज, देश और समाज के अपने जीवन को समर्पित कर दिया।

प्रस्तुत खण्ड में यह दर्शाया गया है कि किस प्रकार मनुष्यों के कर्मों में भी उसके स्वभाव की सुरूपता और कुरूपता स्पष्ट होती है।सात्त्विक पुरुषों के यज्ञ कर्म सदैव फलासक्ति से रहित और निस्वार्थ भाव से किये जाते हैं। फल की प्राप्ति भविष्य में ही होती है और इसलिए वर्तमान समय में उनकी चिन्ता करने में अपनी क्षमताओं को क्षीण करना अविवेक का ही लक्षण है।

तमोगुणी लोग शास्त्रविधि का सर्वथा उल्लंघन करते हैं, परन्तु सत्त्वगुणी लोग उसका सम्मान करते हैं। यह मेरा कर्तव्य है सदाचारी पुरुष सदा अपने कर्मों को केवल कर्तव्य की भावना से ही करते हैं। अत उन्हें फल की चिन्ता कभी नहीं होती है। इस प्रकार व्यर्थ में वे अपनी शक्तियों का अपव्यय नहीं होने देते। वे अपनी स्वरूपभूत शान्ति में स्थित रहते हैं। सात्त्विक पुरुष को इसी बात की प्रसन्नता होती है कि वह समाज कल्याण के उपयोगी कर्म कर सकता है। ऐसे कर्म ही सात्त्विक कहलाते हैं।

मनुष्य का जीवन अनेक संघर्ष एवम चुनोतियों से भरा रहता है। हर पल क्या होगा, पता नही रहता। सत्व गुण आ जाने से मनुष्य का स्वभाव उस बहती नदी से हो जाता है जिसे समुन्द्र में विलीन होना है, इसलिये बिना किसी कामना के वो अपने कर्तव्य को करता रहे तो भी उस के कर्तव्य कर्म उसे उस की गति प्राप्त हो जाएगी। कृष्ण समर्पण भाव से जो भी सामने प्रकट हो उसे अपने बुद्धि, विवेक, कार्यक्षमता एवम निष्काम हो कर करते रहना चाहिए। कोई कारण नही कि उसे वह सब प्राप्त न हो जिस का वह अधिकारी है। जब कोई कामना के बिना मिलता है तो आनंदमय ही होता है क्योंकि असंतुष्टि नही रहती।

अतः निष्काम भाव से शास्त्र विधि से कर्म करना ही सात्विक कर्म है।एक विलक्षण बात है कि गीतामें जो सत्त्वगुण कहा है, वह संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर के परमात्मा की तरफ ले जानेवाला होने से सत् अर्थात् निर्गुण हो जाता है। दैवीसम्पत्ति में भी जितने गुण हैं, वे सब सात्त्विक ही हैं। परन्तु दैवीसम्पत्तिवाला तभी परमात्माको प्राप्त होगा, जब वह सत्त्वगुण से ऊँचा उठ जायगा अर्थात् जब गुणों के सङ्ग से सर्वथा रहित हो जायगा।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.11।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.12॥

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत् ।

इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्॥

"abhisandhāya tu phalaṁ

dambhārtham api caiva yat

ijyate bharata-śreṣṭha

taṁ yajñaṁ viddhi rājasam"

भावार्थ :

परन्तु हे भरतश्रेष्ठ! जो यज्ञ केवल फल की इच्छा के लिये अहंकार से युक्त होकर किया जाता है उसको तू राजसी यज्ञ समझ। (१२)

Meaning:

That which is performed with the intent of reward and for ostentation alone, know that such a sacrifice is raajasic.

Explanation:

Our attitude towards our actions determines the texture of our faith. Continuing with this theme, Shri Krishna describes the attitude with which a raajasic person performs his actions. He says that such a person constantly thinks "what is in it for me" in each and every action he performs. Personal

gain is paramount, anyone else's gain is secondary or even overlooked. Such a person is also constantly interested in the impression created by his action in the minds of others, and how will it benefit him. In other words, his actions are only performed for name and fame, for show and display. There is always an ulterior motive.

So far we have heard about the attitudes of saattvic and raajasic people towards action. This may raise several questions with respect to our life. We may say, I am a businessman, how can I not think what is in it for me? To answer this, we need to go back to the notion of our svadharma, our chosen career path. As long as ethics and laws are observed, a businessman should absolutely be focused on maximizing profits, otherwise he is not performing his duty. However, the businessman's profit motive should only be restricted to business deals. A transaction mindset creeps into interactions with friends and family, it ends up causing trouble.

Now, we may be tempted to point our fingers at those who spend a lot of time and energy in maintaining their appearance. We may also say, when others make negative comments about our appearance, we do not get stressed. All this is well and good. However, we may get insulted or stressed when someone comments upon our intellect or our competency in our job. This means that we harbour a strong sense of aham, a strong sense of the "I" notion with our intellect. This stress is also an indicator that somewhere within us, the texture of our faith is tinged with rajas.

।। हिंदी समीक्षा ।।

फल अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट की निवृत्तिकी कामना रखकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस हो जाता है। इस लोक में हमें धनवैभव मिले स्त्री पुत्र, परिवार अच्छा मिले नौकर चाकर, गाय भैंस आदि भी हमारे अनुकूल मिलें हमारा शरीर नीरोग रहे हमारा आदर सत्कार, मान बड़ाई, प्रसिद्धि हो जाय तथा मरने के बाद भी हमें स्वर्गादि लोकोंके दिव्य भोग मिलें आदि इष्ट की प्राप्ति की कामनाएँ हैं। हमारे वैरी नष्ट हो जायँ संसार में हमारा अपमान, बेइज्जती, तिरस्कार आदि कभी न हो हमारे प्रतिकूल परिस्थिति कभी आये ही नहीं आदि अनिष्ट की निवृत्ति की कामनाएँ हैं।

लोग हमें भीतर से सद्‌गुणी, सदाचारी, संयमी, तपस्वी, दानी, धर्मात्मा, याज्ञिक आदि समझें, जिस से संसार में हमारी प्रसिद्धि हो जाय – ऐसे दिखावटीपने को लेकर जो यज्ञ किया जाता है, वह राजस कहलाता है।

परमात्मा अब ऐसे यज्ञ का वर्णन कर रहे है जिस यज्ञ करनेवाले का आकर्षण यज्ञ का न हो कर यज्ञ देखने वालों पर अपना अहंकार प्रकट करना हो। अक्सर भागवत, भजन या कथा कराने वाले कथा का आयोजन अपनी प्रतिष्ठा के लिये भी करवाते है, उस समय वो कथा को न सुनते हुए प्रबंधन एवम लोगो से मिलने पर रुचि भी रखते है और अपनी बड़ाई भी करते रहते है। यह यज्ञ राजस ही होता है।

कामना तो रजोगुण का लक्षण ही है। अत, रजोगुणी लोग जो भी कर्म करते हैं, स्वभावत कामना से ही प्रेरित होते हैं। फलासक्त पुरुष को सदैव यह चिन्ता लगी रहती है कि उसे इच्छित फल मिलेगा अथवा नहीं। इस प्रकार वह विभिन्न कल्पनाएं करके भयभीत होता रहता है। अनेक रजोगुणी व्यक्ति केवल अपने ज्ञान या धन का प्रदर्शन करने के लिए यज्ञ कर्म करते हैं। उसके अनुष्ठान में उनका कोई अन्य विशेष प्रयोजन नहीं होता है। ऐसे दम्भपूर्वक किये गये कर्म सात्त्विक कर्म नहीं कहलाते, और न ही ऐसे कर्मों से मनशान्ति एवं प्रसन्नता का पुरस्कार प्राप्त हो सकता है। ये राजस यज्ञ हैं।

व्यवहार में राजस प्रवृति से लोग व्यवहार करते है क्योंकि धारणा भी यही रहती है कि इस संसार मे रहना है तो जीने के लिये कुछ तो करना पड़ेगा। निष्काम होना अपने आप मे तप है जिसे हम आगे पढेंगे। जब तक जीवन का मूल समझ मे नही आता, तब तक प्रकृति के त्रियामी गुणों में उन्नति का अर्थ ही तम गुण से सत्त्व गुण की ओर बढ़ना चाहिए। इसलिये यह अध्याय हमे अपने कर्मो पर नजर कैसे रखे कि हम यह जान सके कि हमारी श्रद्धा की ओर बढ़ रही है, सिखाता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.12।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.13॥

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।

श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

"vidhi-hīnam asṛṣṭānnaṁ

mantra-hīnam adakṣiṇam

śraddhā-virahitaṁ yajñaṁ

tāmasaṁ paricakṣate"

भावार्थ :

जो यज्ञ शास्त्रों के निर्देशों के बिना, अन्न का वितरण किये बिना, वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के बिना, पुरोहितों को दक्षिणा दिये बिना और श्रद्धा के बिना किये जाते हैं, उन यज्ञ को तामसी यज्ञ माना जाता हैं। (१३)

Meaning:

They call that sacrifice to be taamasic which is contrary to scripture, in which no food is distributed, without chanting of hymns or donations to priests, and performed without faith.

Explanation:

Here, Shri Krishna describes the attitude of taamasic individuals towards action, using the symbolism of a sacrificial ritual once again. He says that taamasic attitude towards action totally disregards shaastra or scripture. Scripture refers to a higher law, any notion of ethics or morality. There is no thought as to the consequence of the action to oneself and to other individuals whatsoever. Any task done without proper planning or performed haphazardly falls into this category.

Next, Shri Krishna says that there is no distribution of food in the sacrifice. In the taamasic attitude, the person not only claims the results of the action as their own, but goes to great lengths to ensure that no one else gains the benefit of the action, even if it is their due. For instance, if a business has a good year, the owner may hoard the profits instead of giving employees a bonus. Furthermore, the taamasic attitude does give respect or listen to advice of senior people, referred to as "priests" in this shloka.

The main problem with the taamasic attitude is that all actions are performed with lack of faith. In other words, actions are performed for all the wrong reasons - someone else told us to perform the action, we are just doing it for the sake of doing it, we are doing it grudgingly, we are not putting our heart into it, we are not involved in it and so on. The performance of actions is as if it is being done by a lifeless entity, a corpse.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यज्ञ का अर्थ है समर्पित भाव से कर्म करना। यह यज्ञ भी कायिक, वाचिक और मानसी हो सकता है। इस तीनो प्रकार विस्तृत विवरण तप के साथ किया गया है जिसे हम आगे पढेंगे। अतः जो यज्ञ मन के अधीन हो कर किया जाता है, वह स्वछंद है अर्थात उस यज्ञ में लोकसंग्रह के लिये भी कुछ नही और अपने हित की कामना के लिये भी कुछ नही। वह यज्ञ बिना विधिविधान का, मंन्त्ररहित, दान दक्षिणा रहित, श्रद्धा रहित और निर्रथक या किसी को कष्ट ही देने का होता है। इस प्रकार के यज्ञ को तामसी यज्ञ ही कहा जायेगा।

ऐसे लोग प्रायः अपनी प्रसिद्धि, मानबड़ाई के लिये वे यज्ञ करते भी हैं तो बिना शास्त्र विधि के, बिना अन्नदान के, बिना मन्त्रों के और बिना दक्षिणा के करते हैं। उन की शास्त्रों पर, शास्त्रोक्त मन्त्रों पर और उन में बतायी हुई विधियों पर तथा शास्त्रोक्त विधिपूर्वक की गयी यज्ञ की क्रिया पर और उस के पारलौकिक फल पर भी श्रद्धाविश्वास नहीं होते। कारण कि उनमें मूढ़ता होती है। उन में अपनी तो अक्ल होती नहीं और दूसरा कोई समझा दे तो उसे मानते नहीं।

इस श्लोक में कथित प्रकार से किया हुआ यज्ञ न यज्ञकर्ता के लिए सुखवर्धक सिद्ध होता है और न समाज के अन्य लोगों के लिए लाभदायक। अन्नदान रहित धर्मशास्त्र की भाषा में, हमारे जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को अन्न शब्द के द्वारा सूचित किया जाता है। आधुनिक काल की भाषा में भोजन वस्त्र और गृह के द्वारा उन्हें इंगित किया जाता है। मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने पास उपलब्ध वस्तुओं का दान उन लोगों को दें, जिन्हें उन की आवश्यकता होती है। ऐसा दान प्रेम के बिना कभी संभव ही नहीं हो सकता। तमोगुणी पुरुष यज्ञ कर्म के अनुष्ठान में भी शास्त्रोक्त दान नहीं करता है। कर्मकाण्ड के अनुष्ठान में मन्त्रों का उच्चारण तथा शिक्षित पुरोहितों को दक्षिणा देना आवश्यक होता है, परन्तु तमोगुणी पुरुष इन सब नियमों की ओर ध्यान ही नहीं देता है। अत उसके द्वारा अनुष्ठित यज्ञ तामस कहलाता है।

किसी भी कार्य का उद्देश्य या लक्ष्य महत्वपूर्ण है, मनुष्य जीवन मोक्ष प्राप्ति का एक मात्र साधन है, किंतु यही जीवन को प्राप्त करने के बाद पशु – पक्षियो की भांति खाने – पीने, काम – वासना या सत्ता, सुंदरी, घृणा या बदला लेने की भावना से जो भी कृत्य अर्थात यज्ञ संपन्न होगा, वह तामसी होगा। क्योंकि इस के कारण किसी न किसी को तो नुकसान उठाना होता है। अशुद्ध या अर्थहीन शब्दो या अशुद्ध उच्चारण से जो यज्ञ किया जाता है, जिस में दक्षिणा का अभाव हो उसे तामसी कहा गया है, व्यवहार में बिना उचित पारिश्रमिक दिए, गाली गलौच और बल पूर्वक किसी से नैतिक या अनैतिक कार्य करना, तामसी वृति का यज्ञ ही है। बिना सहमति के शादी करना, व्यापार नही समझते हुए भी, कुछ भी अनैतिक तरीके से व्यापार करना आदि तामसी यज्ञ है। आज पैसे का मूल्य विद्वता से अधिक हो गया है, इस के बल पर भव्यता दिखाने हेतु बड़े बड़े यज्ञ, पाठ, भजन या कीर्तन किए जाते है, जिस में भगवान की आराधना के अतिरिक्त मनोरंजन के लिए गाने – बजाने और खाने पर अधिक ध्यान दिया जाता है, शास्त्र विधि को त्याग कर सुविधा के अनुसार मंत्रो का पाठ भी तामसी है।

व्यवहार में जो सुबह उठ कर नियमित दिनचर्या में काम नही करते, वो जो भी काम करते है वो आमोद–प्रोमोद या दूसरे को कष्ट देने के लिये होते है, उन का परिवार, समाज, धर्म और देश के प्रति कोई दायित्व या योगदान नही होता। वो कुछ नही करते है, सिर्फ अपने लिए और दूसरों को नुकसान पहचाने के लिये करते है। मनुष्य में परस्पर सहयोग एवम सामंजस्य होना चाहिये किन्तु इस के कार्य या इन का यज्ञ इनसब के विपरीत ही इन के नियम के अनुसार चलता है, इसलिये यह तामसी श्रेणी में आता है।

अगले तीन श्लोकों में तप के वास्तविक स्वरूप को दर्शाकर, तत्पश्चात् गुण भेद से त्रिविध तपों का वर्णन को पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.13 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.14॥

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥

"deva-dvija-guru-prājña-

pūjanaṁ śaucam ārjavam

brahmacaryam ahiṁsā ca

śārīraṁ tapa ucyate"

भावार्थ :

ईश्वर, ब्राह्मण, गुरु, माता, पिता के समान पूज्यनीय व्यक्तियों का पूजन करना, आचरण की शुद्धता, मन की शुद्धता, इन्द्रियों विषयों के प्रति अनासक्ति और मन, वाणी और शरीर से किसी को भी कष्ट न पहुँचाना, शरीर सम्बन्धी तप कहा जाता है। (१४)

Meaning:

Worship of the deities, the twice born, teachers and the learned, purity, straightforwardness, chastity and non violence, these are called penance of the body.

Explanation:

So far, Shri Krishna described the three types of food and worship so that we can use them to analyze the texture of our faith. He now begins the topic of tapas, which means penance or austerity. Through tapas we ensure that the energy that we derive from consuming food can be

conserved and channeled into our actions. This tapas or penance is also of three types, saattvic, raajasic and taamasic. But penance itself needs to be broken down into its three main components first. Here, we examine the first component which is bodily or physical penance, shaaririka tapas.

Penance of the body begins with bowing down to, respecting, and serving our deities, our elders and our teachers. Deities also means the gods representing elemental forces such as Varun, lord of the seas. This means that we should worship and take care of all the natural resource this world has to offer. Offering service to something greater than us also has the effect of checking our aham, our ego, our illusory notion of who we are. It increases our humility and decreases our individuality.

Shaucham refers to purity of our body and our surroundings. If we keep our room unclean or cluttered, it is an indication that our mind is also unclean, or is cluttered with useless thoughts. Aarjavam or straightforwardness refers to our posture. We will not be able to meditate unless we are able to maintain an erect posture. This straightforwardness of the body is also a pointer to making our thinking straightforward, without any trace of deceit. Brahmacharyam refers to stopping our checking the excessive straying of our sense organs into their respective objects, like watching too much TV or consuming a lot of rich food. Ahimsa or non violence prevents us from harming anyone or anything using our body.

।। हिंदी समीक्षा ।।

यज्ञ के पश्चात तप और दान का निरूपण किया गया है। यहां तप के कायिक, मानसी और वाचिक तीन भेद किए गए है और प्रत्येक भेद को सत, रज और तम गुणों में बांटा गया है। तप का शाब्दिक अर्थ होता है, तपाना अर्थात अपने को किसी कार्य विशेष के लिये तैयार करना। जैसे अध्ययन करने वाला विद्यार्थी जब मन लगा कर पढ़ाई कर रहा हो तो वह अपने कर्तव्य कर्म का तप कर रहा होता है। अतः यज्ञ–याग आदि कर्म, वेदाध्ययन अथवा चातुर्वर्ण्य अर्थात चार वर्णों के अनुसार अपने कर्म को करना एवम उस मे पारंगत होना ही तप है। ब्राह्मण के ब्रह्म ज्ञान, वेद एवम यज्ञ करना, क्षत्रिय के दुसरो की रक्षा करना, वैश्य के लिये व्यापार करना एवम शुद्र के लिये सेवा करना ही तप है। हर जीव को अपना कर्म निर्धारित करने का अधिकार है, क्योंकि यह जन्म से नही तय होता। गीता में तप पतंजलि योग के तप से मनु द्वारा किया हुआ तप का व्यापक अर्थ यज्ञ – याग, वेदाध्ययन एवम वर्ण के अनुसार कर्तव्य धर्म का पालन ही तप है। तप के तीन स्वरूप है जिसे हम कायिक, वाचिक और मानसिक भेदो से समझ सकते है। यह श्लोक कायिक तप का वर्णन करता है।

देव, द्विज, गुरु और ज्ञानी जनों का पूजन यह दो गुण, अपने आराध्य के साथ तादात्म्य बनाये रखने की साधना पूजा कहलाती है। इस पूजा के फलस्वरूप पूजक अपने आराध्य के गुणों से सम्पन्न हो जाता है। नैतिक विकास एवं सांस्कृतिक उन्नति का उपाय यह पूजन ही है। यह बहुत कुछ चुम्बकीकरण की स्पर्शविधि के समान ही है। जो पुरुष अपने व्यक्तित्व के प्रतिबन्धनों से मुक्त होना चाहता है, उसको अपने आराध्य आदर्श (देव) के प्रति

श्रद्धा और भक्ति, आदर और सम्मान का भाव होना अत्यावश्यक है। उसी प्रकार, जिन सत्पुरुषों ने इस आदर्श को प्रस्तुत किया उन द्विजों (ब्राह्मणों) के प्रति तथा उपदेष्टा गुरु और इस आदर्श के अनुमोदक ज्ञानी जनों के प्रति भी वही भक्ति भाव होना चाहिए। द्विज इस शब्द का वाच्यार्थ है वह व्यक्ति जो दो बार जन्मा हो अर्थात जिस का यज्ञोपित संस्कार हुआ हो और उस में जनेऊ धारण किया हो। यह शब्द ब्राह्मणों का सूचक है और ब्रह्मवित् पुरुष को ही ब्राह्मण कहते हैं। माता के गर्भ से जन्म लेने पर सभी मनुष्य एक समान ही होते हैं। यद्यपि सबमें बौद्धिक क्षमता और सुन्दरता होती है, परन्तु उसके साथ ही अनेक नैतिक दोष भी होते हैं। हम एक गर्भ से तो मुक्त होते हैं परन्तु प्रकृति की जड़ उपाधियों के गर्भ में बन्धे ही रहते हैं इन उपाधियों के तादात्म्य से स्वयं को मुक्त कर अपने आत्मस्वरूप के परमानन्द में निष्ठा प्राप्त करना ही दूसरा जन्म माना जाता है। इसलिए आत्मानुभवी पुरुष को द्विज कहा जाता है। अतः प्रथम गुण परमात्मा पर श्रद्धा एवम विश्वास, अपने से बड़ो का सम्मान एवम ज्ञान को विन्रमता के ग्रहण करना तथा सात्विक जीवन व्यतीत करना है। हम जो भी कार्य करे उसे पूर्ण रूप से समर्पित भाव से सीख कर विधि–विधान को समझ कर करे। शल्य चिकित्सा और युद्ध मे तलवार चलाना दोनों ही अलग अलग कौशल है।

तृतीय कायिक तप शौच और सरलता शरीर की स्वच्छता के साथ साथ आस पास के वातावरण की स्वच्छता की ओर भी साधक को ध्यान देना चाहिए। यह बाह्य शुद्धि ही यहाँ शौच शब्द से इंगित की गयी है। उसी प्रकार साधक के बाह्य व्यवहार में सरलता होनी चाहिए। कुटिलता के कारण व्यक्तित्व के विभाजन की आशंका बनी रहती है। ऐसे विभाजित पुरुष के मन का सन्तुलन, सार्मथ्य और शान्ति नष्ट हो जाती है।

चतुर्थ तप ब्रह्मचर्य सदैव ब्रह्मस्वरूप में रमने के स्वभाव को ही ब्रह्मचर्य कहते हैं।यह रमण तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक हमारा शरीर और मन विषयोपभोगों से विरत नहीं होता है। इसलिए, इन्द्रियों व मन के संयम को भी ब्रह्मचर्य की संज्ञा प्रदान की गयी है। जैसे, मेडिकल कालेज में प्रवेश प्राप्त कर लेने पर ही विद्यार्थी को डाक्टर कहा जाने लगता है क्योंकि उसका साध्य तब दूर नहीं रह जाता। ब्रह्मचर्य के बिना एक्रागता संभव नही। एक पत्नी या एक पति व्रत भी ब्रह्मचर्य ही है।

कायिक तप में अगला गुण अहिंसा बताया गया है, अहिंसा किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाने का नाम ही अहिंसा है। जीवन में, जाने या अनजाने किसी प्राणी को कदापि शारीरिक पीड़ा न पहुँचाना असम्भव है। परन्तु अपने मन में हिंसा का भाव कभी न आने देना चाहिए और तब अपरिहार्य शारीरिक पीड़ा भी कल्याण कारक हो सकती है। उदाहरणार्थ एक शल्य चिकित्सक के द्वारा रोगी को दिया गया शारीरिक कष्ट रोगी के लिए कल्याण कारक ही सिद्ध होता है। उस चिकित्सक की दृष्टि से यह अहिंसा ही है। मन मे निर्दयता या क्रूर भाव, मानसिक अशांति लाता है इसलिये शरीर से हिंसा न हो यही तप है।

इसके अतिरिक्त शरीर की ऐंठ अकड़ का त्याग कर के उठने, बैठने आदि शारीरिक क्रियाओं को सीधी सरलता से करने का नाम आर्जव है। अभिमान अधिक होने से ही शरीर में टेढ़ापन आता है। अतः जो अपना कल्याण चाहता है, ऐसे साधक को अपने में अभिमान नहीं रखना चाहिये। निरभिमानता होने से शरीर में और शरीर की चलने, उठने, बैठने, बोलने, देखने आदि सभी क्रियाओं में स्वाभाविक ही सरलता आ जाती है, जो तप का आर्जव स्वरूप है।

उपर्युक्त पूजनादि साधनाओं में शरीर की प्रधानता होने से उन्हें शरीर तप कहा गया है। ऐसे समस्त कार्य और करणों से जो कर्ता द्वारा किये जायँ वे शरीरसम्बन्धी तप कहलाते हैं।तप का अर्थ शरीर उत्पीड़न ही नहीं है। वस्तुत, तप तो वह विवेकपूर्ण जीवन पद्धति है, जिसके द्वारा हम अपनी समस्त शक्तियों के अपव्यय को अवरुद्ध कर उनका संचय कर सकते हैं। नई शक्तियों को प्राप्त कर उनका संचय करना और तत्पश्चात् उनका रचनात्मक कार्यों में प्रयोग करना यह सम्पूर्ण योजना तप शब्द के व्यापक अर्थ में समाविष्ट है। ऐसे विवेकपूर्ण तप को यहाँ वास्तविक शरीर तप के रूप में प्रमाणित किया गया है।

तप के समस्त प्रकार पढ़ने के बाद ही हम उसे के प्राकृतिक गुणों को जानेगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.14।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.15॥

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते॥

"anudvega-karaṁ vākyaṁ

satyaṁ priya-hitaṁ ca yat

svādhyāyābhyasanaṁ caiva

vāṅ-mayaṁ tapa ucyate"

भावार्थ :

किसी को भी कष्ट न पहुँचाने वाले शब्द वोलना, सत्य वोलना, प्रिय लगने वाले हितकारी शब्द वोलना और वेद–शास्त्रों का उच्चारण द्वारा अध्यन करना, वाणी सम्बन्धी तप कहा जाता है। (१५)

Meaning:

Those words that do not perturb others, that are true, pleasant and beneficial, and also the practice of recitation of scriptures, that is called the penance of speech.

Explanation:

Having described the penance of the body, Shri Krishna now describes penance of speech or vaangmaya tapa. He mentions four conditions of speech : that it should be true, it should be pleasant to hear, it should benefit the other person, and it should not cause any disturbance in the other person's mind. Whenever we speak statements that fulfill all these four conditions, we are practicing penance of the mind. Putting it differently, we are not wasting or dissipating the energy of our speech when we speak like this.

Initially, we may think that satisfying even two or three of these conditions is impractical. However, speaking tactfully is a skill needed in our daily lives. For instance, what is true may not always be the most pleasant thing to convey. In the office, we have to deliver all kinds of messages to people without them losing face. Even in the home, while talking to spouse, just conveying information factually does not always work best. Therefore, putting thought into choosing our words carefully has practical as well as spiritual benefits.

Now, many of us have an urge to say something when we are by ourselves. Here, Shri Krishna suggests that we recite scriptures daily, like chanting the second chapter of the Gita, for instance. Doing so satisfies our urge of speaking, and also forces the mind to contemplate the Gita teaching rather than stray here and there. In fact, it becomes a form of meditation as well. Once we memorize the shlokas, we can contemplate upon them whenever we want, without having to rely on a book.

।। हिंदी समीक्षा ।।

मनुष्य के पास स्वयं को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम है वाणी। इस वाणी के द्वारा वक्ता की बौद्धिक पात्रता, मानसिक शिष्टता एवं शारीरिक संयम प्रकट होते हैं। यदि वक्ता अपने व्यक्तित्व के इन सभी स्तरों पर सुगठित न हो, तो उसकी वाणी में कोई शक्ति, कोई चमत्कृति नहीं होती। वाणी एक कर्मेन्द्रिय है, जिसके सतत क्रियाशील रहने से मनुष्य की शक्ति का सर्वाधिक व्यय होता है। अत वाणी के संयम के द्वारा बहुत बड़ी मात्रा में शक्ति का संचय किया जा सकता है, जिसका सदुपयोग हम अपनी साधना में कर सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि हम आत्मनाशक और परोत्तेजक मौन को धारण करें। वाक्शक्ति का उपयोग व्यक्तित्व के सुगठन के लिए करना चाहिए। इस शक्ति का सदुपयोग करने की एक कला है जो वक्ता के तथा अन्य लोगों के लिए भी

हितकारी है। वाणी की इस हितकारी कला का वर्णन इस श्लोक में किया गया है। पूर्व श्लोक में इंगित किये गये विचार को यहाँ और अधिक स्पष्ट किया गया है कि तप कोई आत्मपीड़ा का साधन न होकर आत्मविकास एवं आत्मसाक्षात्कार की कल्याणकारी योजना है।

कहा जाता है शिकागो में धर्मसभा में संबोधित करते हुए स्वामी विवेकानंद जी जिस भाइयों और बहनों शब्द का प्रयोग किया था, उसे उसी सम्मेलन में उन के पूर्व भी चार लोगों ने किया था। किंतु वाणी का जो ओज, आत्मीयता और संयम विवेकानंद की वाणी में था वह किसी और में न था।

वाचिक तप में वाणी के चार भाग किये है। अनुद्वेगकरं वाक्यम्, जो वाक्य वर्तमान में और भविष्य में कभी किसी में भी उद्वेग, विक्षेप और हलचल पैदा करनेवाला न हो, वह वाक्य अनुद्वेगकर कहा जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी धारणा, समझने की शक्ति, सुनाने वाले व्यक्ति के प्रति श्रद्धा और विश्वास और परस्थितियों के अनुसार मानसिक और शारीरिक दशा होती है, जिस में वह किसी भी विचार, प्रवचन या बात को सुन कर अपना ही विचार या धारणा बना लेता है। अनुद्वेगकरं का आशय सत्य और प्रिय वचनों के द्वारा इन सब से परे यथार्थ स्वरूप में रखना। मानसिक स्थिति जब शांत हो और किसी की बात को शब्दो के आधार की बजाए, भावना, आशय और कहने वाले की परिस्थिति और ज्ञान के आधार पर संपूर्ण समझना और उसे वैसा ही प्रकट करना अनुद्वेगपूर्ण हो कर कहना है। अक्सर लोग किसी की पूरी बात नही सुनते और बीच के कुछ शब्दो को पकड़ कर अपनी बात रखते है, तो द्वेगपूर्ण वचन कहलाता है।

सत्यं प्रियहितं च यत्, जैसा पढ़ा, सुना, देखा और निश्चय किया गया हो, उसको वैसा का वैसा ही अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग करके दूसरों को समझाने के लिये कह देना सत्य है।

जो क्रूरता, रूखेपन, तीखेपन, ताने, निन्दाचुगली और अपमानकारक शब्दों से रहित हो और जो प्रेमयुक्त, मीठे, सरल और शान्त वचनों से कहा जाय? वह वाक्य प्रिय कहलाता है।जो हिंसा, डाह, द्वेष, वैर आदि से सर्वथा रहित हो और प्रेम, दया, क्षमा, उदारता, मङ्गल आदि से भरा हो तथा जो वर्तमान में और भविष्य में भी अपना और दूसरे किसी का अनिष्ट करनेवाला न हो, वह वाक्य हित (हितकर) कहलाता है।

अपवाद में विदुर ने महाभारत में ही दुर्योधन को कहा कि अप्रिय और पचा न सकने वाला सत्य बोलने वाला वक्ता और श्रोता दोनों ही दुर्लभ है। अर्थात प्रिय और हित मे यदि अति आ जाये और उसे उस की गलती का अहसास भी न दिला सके तो वो सत्य भी सत्य नही।

सत्य शब्द भी निष्ठुर की भांति बोलना गलत ही है। समय, स्थान परिस्थितियां ही तय करती है कि सत्य वक्तव्य धर्म और न्याय के किंतना उचित और अनुचित है। युद्ध जितने के लिये युधिष्ठर द्वारा भी झूठ बोलना, बताता है

कि लक्ष्य के लिये व्यक्ति को किसी विशेष परिस्थितियों में बदलाव को स्वीकार करना चाहिये। कभी कभी किसी निर्दोष की रक्षा, देश हित मे शत्रुओं को देश के गुप्त कार्यो एवम अधिवक्ता या व्यापार में सत्य का निरूपण बदल जाता है क्योंकि यहाँ वह बात रखी जाती है जो सब के हित में हो। आज का हित भविष्य के लिये अहितकारी हो तो वह हित नही कह सकते। सत्य के कथन से यदि भूलवश भी किसी का अहित हो, तो उस का कर्म का फल भी भोगना पड़ता है, इसलिए सत्य का अर्थ यही समय और स्थान के अनुसार निष्काम भाव से अपनी वाणी को संयम में रखते हुए, विचारपूर्वक बोलना। युद्ध की आवश्यकता देखते हुए, युद्धिष्ठर ने भी "अश्वथामा मारा गया" का कथन द्रोणाचार्य को हराने के कहा था।

वाणी में ओज बिना स्वाध्याय के नही आता। जब तक स्वयं मनन, चिंतन एवम पठन कर के स्वाध्याय न किया जाए तो उस विषय मे कोई भी अधिकार के साथ अपनी बात नही रख सकता है। अतः स्वाध्याय वाणी के तप की अनिवार्य प्रक्रिया है। स्वाध्याय सत्य–असत्य के भेद को समंझने एवम अन्तःकरण के ज्ञान को विकसित करने के आवश्यक है। बिना स्वाध्याय के सत्य का निरूपण नही किया जा सकता। ज्ञानेश्वरी में कहा गया है, जब तक कोई पूछे नही या उस के आवश्यक न हो, व्यर्थ का प्रलाप करने से अच्छा है, वह समय अध्ययन और मनन से अपने ज्ञान को अधिक प्रभावशाली बनाना है। इसलिए अपने अंतकरण को अध्ययन द्वारा ज्ञान की वेधशाला बना लेना चाहिए, जिस से जब भी बोले, अस्पष्ट या संदेह के साथ न बोले।

सत्य को जानना, समझना और बोलना उसी मनुष्य द्वारा संभव है स्वयं में निष्काम हो, जिस ने चारों दिशा से सत्य का अवलोकन कर के उस पर मनन किया हो, जिस की वाणी शुद्ध एवम जिस का ज्ञान स्वाध्याय से परिपूर्ण हो। अन्यथा अर्धसत्य को ही बहुत बार सत्य मान कर असत्य को प्रस्थापित कर दिया जाता है।

अतः दूसरे को किसी बात का बोध कराने के लिये कहे हुए वाक्य में यदि सत्यता, प्रियता, हितकारिता और अनुद्विग्नता इन सब का अथवा इन में से किसी एक,दो या तीन का अभाव हो तो वह वाणी सम्बन्धी तप नहीं है और यदि वह स्वाध्याय द्वारा तपाया न हो तो भी परिपूर्ण भी नही है। स्वाध्याय अपने धर्मग्रंथों एवम अपने कर्म संबंधित विषयों का अध्ययन है, जो इस के विपरीत है, वो स्वाध्याय नही हो सकता।

व्यवहार में अक्सर लोग सुनी सुनाई बातो को आगे बिना जांचे प्रसारित कर देते है, इस से ज्ञान से ज्यादा अज्ञान का प्रचार भी होता है और व्यक्ति की विश्वनीयता भी कम होती है। जो लोग अध्ययन के बिना बहस भी करते है और अपनी बात रखने के वाणी को उच्च स्वर में बोलने लगते है, समाज में उन की गिनती झगड़ालू या असभ्य व्यक्ति में होती है।

आगे हम मानसी तप को पढ़ते है। जिस से कायिक, वाचिक और मानसी तप को सही समझ कर श्रद्धा के अनुसार प्रकृति के गुणों में तप के भी तीनो गुणों को समझ सके।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.15।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.16॥

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते॥

"manaḥ-prasādaḥ saumyatvaṁ

maunam ātma-vinigrahaḥ

bhāva-saṁśuddhir ity etat

tapo mānasam ucyate"

भावार्थ :

मन में संतुष्टि का भाव, सभी प्राणीयों के प्रति आदर का भाव, केवल ईश्वरीय चिन्तन का भाव, मन को आत्मा में स्थिर करने का भाव और सभी प्रकार से मन को शुद्ध करना, मन सम्बन्धी तप कहा जाता है। (१६)

Meaning:

Mental cheerfulness, kindness, silence, self control, purity of intent, this is called penance of the mind.

Explanation:

So far, we came across the qualities needed for penance of the body and speech. Shri Krishna now lists the qualities that indicate penance of mind, maanasika tapas. He begins with prasaadaha, a cheerful, joyful attitude towards situations in life. It comes from maintaining our balance and composure in troublesome as well as in happy situations. Saumyatvam refers to developing a gentleness and gracefulness when dealing with people. It requires us to remain free from negative attitudes towards people that manifest as jealousy, violence, cruelty and so on.

The next quality is maunam. Literally, maunam mean silence, but here it means silence that comes out of contemplation. Now, we cannot stop negative thoughts from arising in our mind, but we can always control how much time and attention we give to such thoughts. Whenever such negative thoughts arise, we have to be able to switch to a positive thought immediately. Doing so requires high levels of self control or aatma vinigrahaha, also known as shamaha. If we do not learn how to do this, the mind will hold onto a negative thought and get swept away in a mental whirlpool of negativity.

When we constantly maintain all the above mentioned qualities, our mind will automatically begin to harbour good intentions, even against so-called evil people and tough situations. The key to do this comes back to our outlook towards the world. We need to do one of two things. If we have faith in Ishvara, we need to surrender to him and reduce our dependence on the perishable material world. Alternatively, we treat the entire world as mithyaa, as an illusion, and negate everything in it. As long as we give absolute reality to the world, mental penance is next to impossible.

Now, many of us have an urge to say something when we are by ourselves. Here, Shri Krishna suggests that we recite scriptures daily, like chanting the second chapter of the Gita, for instance. Doing so satisfies our urge of speaking, and also forces the mind to contemplate the Gita teaching rather than stray here and there. In fact, it becomes a form of meditation as well. Once we memorize the shlokas, we can contemplate upon them whenever we want, without having to rely on a book.

।। हिंदी समीक्षा ।।

तप के कायिक एवम वाचिक स्वरूप के बाद मानसी तप की बात करते है। शरीर को नियंत्रण यद्यपि बुद्धि करती है किंतु वास्तव में मन ही इंद्रियाओ से सूचना ग्रहण करता है और कर्मेन्द्रियों को काम मे लगाता है। इसलिये यह चंचल और अशांत रहता है, इस का निग्रह ही मानसी तप है। मानसी तप के पांच स्वरूप बताए है।

मनःप्रसाद अर्थात मन की निर्मलता और प्रसन्नता। जब विषाद–भय, चिंता–शोक, व्याकुलता– उद्विग्नता आदि से मुक्त हो कर मन में प्रसन्नता, हर्ष और बोधशक्ति का उदय हो तो उसे मनःप्रसाद कहेंगे।

वस्तु, व्यक्ति, देश, काल, परिस्थिति, घटना आदि के संयोग से पैदा होनेवाली प्रसन्नता स्थायी रूप से हरदम नहीं रह सकती क्योंकि जिस की उत्पत्ति होती है, वह वस्तु स्थायी रहनेवाली नहीं होती। परन्तु दुर्गुण दुराचारों से सम्बन्ध विच्छेद होने पर जो स्थायी तथा स्वाभाविक प्रसन्नता प्रकट होती है, वह हरदम रहती है और वही प्रसन्नता

मन, बुद्धि आदिमें आती है, जिस से मन में कभी अशान्ति होती ही नहीं अर्थात् मन हरदम प्रसन्न रहता है। मन में अशान्ति, हलचल आदि कब होते हैं जब मनुष्य धन सम्पत्ति, स्त्री पुत्र आदि नाशवान् चीजों का सहारा ले लेता है। जिस का सहारा उस ने ले रखा है, वे सब चीजें आने जाने वाली हैं, स्थायी रहने वाली नहीं हैं। इसीप्रकार अपने स्वार्थ और अभिमान को लेकर किसी से पक्षपात न करे। मन को सदा दया, क्षमा, उदारता आदि भावोंसे परिपूर्ण रखे और मन में प्राणिमात्र के हित का भाव हो।

एक असंयमित और कामुक पुरुष के लिए मन प्रसाद दुर्लभ ही होता है। उस का मन इन्द्रियों के द्वारा सदैव विषयों में ही सुख की खोज में भ्रमण करता रहता है।विषय भोग की इच्छाएं ही मन की इस अन्तहीन दौड़ का कारण है। बाह्य विषय ग्रहण तथा आन्तरिक इच्छाओं से मन को सुरक्षित रखे जाने पर ही मनुष्य को शान्ति प्राप्त हो सकती है। जिस साधक को ऐसा दिव्य और श्रेष्ठ आदर्श प्राप्त हो गया है, जिसमें मन और बुद्धि अपनी चंचलता को विस्मृत कर समाहित हो जाती है, उसे ही वास्तविक मन प्रसाद की उपलब्धि हो सकती है।

सौम्यत्वम स्वभाव में रुक्षता, डाह, हिंसा, प्रतिहिंसा, क्रूरता, निर्दयता आदि तापकारी गुण जो हमेशा उतेजना पैदा करते रहते है उन से दूर शून्य हो कर मन मे प्रेम, शान्ति एवम शीतलता का बना रहना ही सौम्यत्वम है। दूसरो की उन्नति के लिए मन के झुकाव को सौम्यता कहते है, अर्थात सोम यानि चंद्रमा के अनुसार शीतलता बिखेरने वाला, जो धन, बल, मान, पद और बुद्धि के बढ़ने के बाद भी शांत रहना सौम्यता है।

एक बार साधक के मन के भाव यह भाव उत्पन्न नहीं होता कि लोग उसको बलात् उत्पीड़ित कर रहे हैं और न ही वह बाह्य परिस्थितियों से कभी विचलित ही होता है। फिर उसको कोई टेढ़ा वचन कह दे, उसका तिरस्कार कर दे, उस पर बिना कारण दोषारोपण करे, उस के साथ कोई वैर द्वेष रखे अथवा उस के धन, मान, महिमा आदि की हानि हो जाय, तो भी उसके सौम्य भाव में कुछ भी फरक नहीं पड़ता, क्योंकि उस का मन प्रेम, शांति और शीतलता से परिपूर्ण है।

मौनम शब्दों का अनुच्चारण मौन नहीं है।अनुकूलता– प्रतिकूलता, संयोग– वियोग, राग–द्वेष, सुखदुःख आदि द्वन्द्वों को लेकर मन में हलचल का न होना ही वास्तव में मौन है। सामान्यत, मौन शब्द से हम वाणी का मौन ही समझते हैं, परन्तु यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण मौन का उल्लेख मानस तप के सन्दर्भ में करते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। कारण यह है कि मन के शान्त रहने पर ही वाणी का मौन या संयम संभव हो सकता है। कामरागादि के कोलाहल से रहित मन की स्थिति को ही वास्तविक मौन कहते हैं। मुनि के स्वभाव को भी मौन कहते हैं। अत मौन का अर्थ हुआ मननशीलता अर्थात ब्रह्म, जीव, माया तत्व को चिंतन कर के ग्रहण करने वाला। जब शास्त्रों, पुराणों और सन्त महापुरुषों की वाणियों का तथा उन के गहरे भावों का मनन होता रहे और संसार के प्राणी किस प्रकार सुखी हो सकते हैं सबका कल्याण किन किन उपायों से हो सकता है किन किन सरल युक्तियों से हो सकता है उन उन उपायोंका और युक्तियों का मन में हरदम मनन होता रहे –– ये सभी मौन शब्द से कहे जा सकते है। मनन करने वाला सत्य को जानता है, इसलिए कुतर्क में नही फसता। तर्क में कुतर्क से कोई भी व्यक्ति किसी भी निषिद्ध कर्म को भी सही बताने को चेष्टा करता है।

आत्मविनिग्रह अंतकरण की चंचलता का सर्वथा नाश हो कर मन बिलकुल एकाग्र हो जाय और तैलधारावत् एक ही चिन्तन करता रहे, इस को भी मन का निग्रह कहते हैं परन्तु मन का सच्चा निग्रह यही है कि मन साधक के वश में रहे अर्थात् मन को जहाँ से हटाना चाहें, वहाँ से हट जाय और जहाँ जितनी देर लगाना चाहें, वहाँ उतनी देर लगा रहे। तात्पर्य यह है कि साधक मन के वशीभूत होकर काम नहीं करे, प्रत्युत मन ही उसके वशीभूत होकर काम करता रहे। इस प्रकार मन का वशीभूत होना ही वास्तव में आत्मविनिग्रह है।

भावसंशुद्धि अन्तःकरण में राग–द्वेष, काम–क्रोध, लोभ–मोह, मद–मत्सर, ईर्ष्या–वैर, घृणा– तिरस्कार, असूया–असहिष्णुता, प्रमाद, व्यर्थ विचार, इष्टविरोध और अनिष्ट चिंतन आदि दुर्भावों का सर्वथा नष्ट हो जाना और इस की जगह दया, क्षमा, प्रेम, विनय आदि सद्भावों का विकसित होना ही भाव संशुद्धि कहलाता है।

जिस भाव में अपने स्वार्थ और अभिमान का त्याग हो और दूसरों की हितकारिता हो, उसे भाव संशुद्धि अर्थात् भाव की महान् पवित्रता कहते हैं। जिस के भीतर एक भगवान् का ही आसरा, भरोसा है, एक भगवान् का ही चिन्तन है और एक भगवान् की तरफ चलने का ही निश्चय है, उसके भीतर के भाव बहुत जल्दी शुद्ध हो जाते हैं। फिर उसके भीतर उत्पत्तिविनाशशील संसारिक वस्तुओं का सहारा नहीं रहता क्योंकि संसार का सहारा रखने से ही भाव अशुद्ध होते हैं।

मन को नियंत्रित करना अत्यंत कठिन है किंतु अभ्यास और वैराग्य भाव करते रहने से मन का निग्रह होता ही है। तप इसी को कहते है, जिस में निरंतर अभ्यास श्रेष्ठता की ओर हो। जीवन में तर्क और कुतर्क यह दो माध्यम है जिस से श्रेष्ठता कभी प्राप्त नही होती। हर व्यक्ति जो भी करता है उस का तर्कसंगत जवाब उस के पास होता ही है क्योंकि आत्मसंतुष्टि के लिये उसने तर्क का सहारा ले रखा है। तप से तर्क को पहचाना जा सकता है।

TV, सभाओं, सोशल मीडिया एवम आपसी वार्तालाप में तर्क के साथ अनेक प्रकरण, वाद–विवाद एवम पक्ष–विपक्ष होते रहते है, किन्तु सत्य वो ही समझ सकता है जिसने कायिक, वाचिक और मानसी तप किया हो, कहने को तो दुर्योधन भी अपने कृत्य के प्रति सुनिश्चित था कि वो जो कर रहा है तर्क संगत एवम सही है।

मानस तप के साथ तप के तीन प्रकार का वर्णन समाप्त होता है। तप के यह गुण जिस श्रद्धा एवम विश्वास के साथ एक सामान्य व्यक्ति जो शास्त्रों का अध्ययन नही करता, तप करता है, उस को प्रकृति के त्रियामी गुणों में किस गुण का तप मानेंगे, यह आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.16।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.17॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।

अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥

"śraddhayā parayā taptaṁ

tapas tat tri-vidhaṁ naraiḥ

aphalākāṅkṣibhir yuktaiḥ

sāttvikaṁ paricakṣate"

भावार्थ :

पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर मनुष्यों द्वारा बिना किसी फल की इच्छा से उपर्युक्त तीनों प्रकार से जो तप किया जाता है उसे सात्विक (सतोगुणी) तप कहा जाता है।(१७)

Meaning:

This three fold penance, performed by balanced people with supreme faith, without expectation of reward, is called sattvic.

Explanation:

So far, we saw that tapas or penance comprises three aspects. Bodily or shaaririka tapas, speech or vaangmaya tapas, and mental or maanasika tapas. Tapas is used to conserve and channel our energy in the pursuit of a goal or objective, whether it be material or spiritual. Shri Krishna now describes three types of tapas, and how they can be used to assess the texture of our faith. He first describes the conditions under which penance is revealed to be sattvic.

The unique nature of sattvic tapas is that it is performed in the pursuit of the highest possible goal, which is self realization. It is not performed for any material gain, or the pursuit of physical or mental powers. Furthermore, it is performed with the utmost faith in the statements of the scriptures. Shri

Krishna uses the word naraha or human in this shloka, and not in the shlokas that described the other two types of penance. He implies that only humans have the ability to perform penance without expectation of material gain.

Who has the ability to perform this highest level of penance, this sattvic penance? It is one who is yukta, one who has integrated his mind with his intellect, one who can remain balanced in success and failure. Only such a person is able to incorporate all the three aspects of penance, physical, mental and speech, referred in the shloka as three fold. Even if one of these is missing, the tapas loses its sattvic aspects. Mental penance is the toughest of all the three, since it is hardest to conquer the mind.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व में तप के कायिक, वाचिक और मानसी यह तीन स्वरूप बताने के बाद भगवान श्रीकृष्ण कहते है कि तीनो प्रकार के तप से युक्त श्रद्धा ही पराश्रद्धा अर्थात उत्कृष्ट श्रद्धा है, यह जिस किसी की भी हो वह उस से सत्य की प्राप्ति कर सकता है और सत्य ही ब्रह्म है। अतः फलाकांक्षा से रहित यह तप परम पुरुष की आराधना मानते हुए, जो मनुष्य उत्कृष्ट श्रद्धा से युक्त त्रिविध तप शरीर, मन और वाणी के द्वारा तपता है, उसे सात्विक कहते है।

फलाकांक्षा से रहित और श्रद्धा से युक्त में युक्त शब्द को समझना भी आवश्यक है। जिस का मन, बुद्धि और इंद्रियां अनासक्त, निगृहीत तथा शुद्ध होने के कारण, कभी किसी भोग के सबंध से विचलित नहीं हो सकते हो, जिस में आसक्ति का सर्वथा अभाव हो गया हो, उसे ही युक्त कहा जाता है। युक्त होना ही निष्काम होने का प्रथम चरण है। अनासक्त होना और आलसी होना, दोनों में अंतर निष्काम कर्म का होना ही है।

योगयुक्त पुरुष सात्त्विक होते है, जो भविष्य में प्राप्त होने वाले फलों की कदापि चिन्ता नहीं करते हैं। वे जानते हैं कि प्रकृति में सामञ्जस्य और नियमबद्धता है। अत, वर्तमान काल की दशा से प्रभावित हुआ सम्पूर्ण भूतकाल का परिणामी फल ही भविष्य होता है, वे इस तथ्य से भलीभांति परिचित होते हैं। वर्तमान की कर्म कुशलता पर ही भावी फल निर्भर करता है। इसलिए फल की चिन्ता कर के वर्तमान के सुअवसरों को खोना मूढ़ता का ही लक्षण है। सात्त्विक पुरुष फलासक्ति का त्याग कर त्रिविध तप का आचरण करते हैं जिस का उन्हें स्वतः ही सर्वाधिक फल प्राप्त होता है।

यहाँ केवल सात्त्विक तप में त्रिविध पद दिया है और राजस तथा तामस तप में,त्रिविध पद न देकर यत्तत् पद दे कर ही काम चलाया है। इसका आशय यह है कि शारीरिक, वाचिक और मानसिक, तीनों तप केवल सात्त्विक में ही साङ्गोपाङ्ग आ सकते हैं, राजस तथा तामस में तो आंशिक रूप से ही आ सकते हैं। इस में भी राजस में कुछ अधिक लक्षण आ जायँगे क्योंकि राजस मनुष्य का शास्त्रविधि की तरफ खयाल रहता है। परन्तु तामस में तो उन तपों के बहुत ही कम लक्षण आयँगे क्योंकि तामस मनुष्यों में मूढ़ता, दूसरों को कष्ट देना आदि दोष रहते हैं।

तेरहवें अध्याय में सातवें से ग्यारहवें श्लोक तक जो ज्ञान के बीस साधनों का वर्णन आया है, उन में भी शारीरिक तप के तीन लक्षण – शौच, आर्जव और अहिंसा तथा मानसिक तप के दो लक्षण – मौन और आत्मविनिग्रह आये हैं। ऐसे ही सोलहवें अध्याय में पहले से तीसरे श्लोक तक जो दैवीसम्पत्ति के छब्बीस लक्षण बताये गये हैं, उन में भी शारीरिक तप के तीन लक्षण – शौच, अहिंसा और आर्जव तथा वाचिक तप के दो लक्षण – सत्य और स्वाध्याय आये हैं। अतः ज्ञान के जिन साधनों से तत्त्वबोध हो जाय तथा दैवीसम्पत्ति के, जिन गुणों से जीव को मुक्ति प्राप्त हो जाय, वे लक्षण या गुण राजस–तामस नहीं हो सकते। इसलिये राजस और तामस तप में शारीरिक, वाचिक और मानसिक – यह तीनों प्रकार का तप साङ्गोपाङ्ग नहीं लिया जा सकता।

त्रिविध तप में निष्काम होना और कर्म करना ही प्रमुख है।शरीर, वाणी और मन के द्वारा जो तप किया जाता है, वह तप ही मनुष्यों का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है और यही मानवजीवन के उद्देश्य की पूर्ति का अचूक उपाय है । तप के शाब्दिक अर्थ में तपना लिया जाता है, आज के युग में श्रद्धा के साथ त्रिविध हो कर रहना, अत्यंत दुष्कर है, इसलिए इसे तप का नाम दिया है। हमे जब यह मालूम हो, कि जाना कहां है, तो हम उस स्थान के लिए कदम बढ़ा सकते है। भौतिकवाद और स्वार्थ के युग में सात्विक त्रिविध पद के अनुसार व्यवहार करते हुए रहना, किसी एकांत में बैठ कर आंखे बंद कर के, ध्यान या मनन करने से अत्यंत कठिन है। अर्जुन युद्ध भूमि में युद्ध के लिए खड़ा है, युद्ध करना कर्तव्य धर्म है, किंतु युद्ध करते हुए शारीरिक, मानसिक और व्यवहारिक स्थिति में श्रद्धा और विश्वास किस प्रकार का हो, जिस से युद्ध के परिणाम में निष्काम भाव बना रहे, तो उस का स्वरूप यही सात्विक गुण का तप है।

युद्ध ही क्यों, जब आप व्यापार , व्यवसाय , राजनीति, वकील, CA, नौकरी आदि करते हुए, किसी को कष्ट पहुंचाने, लोभ, स्वार्थ या अधिक धन कमाने के उद्देश्य से किसी को परेशान नहीं करते, जो व्यवहारिक और उचित है, उसी के अनुसार व्यवहार करते है, तो आप त्रिविध तप ही करते है, क्योंकि व्यवसाय की मर्यादा के अनुसार कार्य करना, कर्तव्य धर्म है। व्यवहार में अपेक्षा रहती ही है, किंतु अपेक्षा की परिणीति असंतोष, प्रेम, विश्वास, द्वैष, क्रोध, ईर्ष्या, में न हो कर निष्काम स्थितप्रज्ञ भाव में रहे, तो यह तप ही है।

कर्म के सत और असत का विवेचन भी इसी अध्याय के अंत मे किया गया है। श्रद्धा से युक्त विविध कर्मो के प्रकार समझने के बाद ही हम इस को समझ पाएंगे। यदि श्रद्धा युक्त तप निष्काम नही है तो यह तप क्या कहलाता है, इसे आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.17।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.18॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥

"satkāra-māna-pūjārthaṁ

tapo dambhena caiva yat

kriyate tad iha proktaṁ

rājasaṁ calam adhruvam"

भावार्थ :

जो तप आदर पाने की कामना से, सम्मान पाने की इच्छा से और पूजा कराने के लिये स्वयं को निश्चित रूप से कर्ता मानकर किया जाता है, उसे क्षणिक फल देने वाला राजसी (रजोगुणी) तप कहा जाता है। (१८)

Meaning:

That which is performed for praise, honour, worship and ostentation, that praise is called raajasic, is said to be of this world, and is unstable and temporary.

Explanation:

The Puraanaas are filled with stories of all kinds of demons who performed extremely severe penance and austerities. It is said that Raavana chopped off each of his ten heads until Lord Shiva granted him a boon. Hiranyakashipu performed such severe penance that his entire flesh dropped off and only his bones remained. However, none of these demons desired self realization or liberation as the outcome of their penance. They wanted some boon, some power such that they could vanquish their enemies.

Shri Krishna says that whenever we conserve our energy and put in a lot of effort towards any material goal, any goal which is "of this world", such type of penance will be called raajasic. This

penance could be for boosting our ego, in other words, for praise, honour, worship or for showing off. People spend years working extremely hard so that they can buy a fancy house or a car that can be shown off. Dictators do everything they can to ensure that people fall at their feet and worship them.

Ultimately, any effort that is expended towards an earthly goal will be temporary. A simple illustration to explain this notion is that of a ball thrown by a person in the air. No matter how hard the throw is, the ball will eventually fall down and stop moving. Furthermore, any result that we see in the world is also unstable. Several people go on crash diets that, in addition to giving temporary results, may actually harm the body. Any result in the material world is subject to the laws of Prakriti, to the three gunaas themselves, which are inherently unstable.

।। हिंदी समीक्षा ।।

तप के तीनों स्वरूप कायिक, वाचिक एवम मानसी का उद्देश्य या कारण या श्रद्धा ही उस के प्राकृतिक गुण का कारक है।

जो तप सत्कार, मान और पूजा के लिये किया जाता है। यह बड़ा श्रेष्ठ पुरुष है, तपस्वी है, ब्राह्मण है, इस प्रकार जो बड़ाई की जाती है उसका नाम सत्कार है। आते देखकर खड़े हो जाना तथा प्रणाम आदि करना – ऐसे सम्मान का नाम मान है। पैर धोना, अर्चन करना, भोजन कराना इत्यादि का नाम पूजा है। इन सब के लिये जो तप किया जाता है और जो दम्भ से किया जाता है, वह तप यहाँ राजसी कहा गया है।

वस्तुत तपाचरण का प्रयोजन अपनी शक्तियों का संचय कर के उनके द्वारा आत्मविकास करना है। परन्तु जो लोग तप का अनुष्ठान केवल समाज से सत्कार, सम्मान और पूजा प्राप्त करने के लिए अथवा अपने गुण प्रदर्शनमात्र के लिए करते हैं, उनका तप राजस कहलाता है। जब तप स्वर्ग या अन्य लोक के सुखों के भोग, पद, विशिष्ट कार्य के लिये हो तो उस का सम्बंध कामना से जुड़ जाता है और वह निष्काम नही रहता। भगवान् श्रीकृष्ण ने इस के पूर्व ऐसे लोगों को मिथ्याचारी भी कहा था।

क्योंकि इस तप का आधार कामना , अहंकार या सम्मान की अपेक्षा से होता है, इसलिए तप करने वाला आडंबर को धारण करता है, तप का प्रदर्शन भव्य पंडाल, लाउडस्पीकर, विविध भेष वूषा और संगीत, भोज के साथ होता है, लोगो को आमंत्रित करवा कर अपने चरण स्पर्श करवाना या किन्ही को सत्कार के नाम पर चरण स्पर्श करना, भाषणों द्वारा कीर्ति का गुणगान करवाना आदि भी सम्मिलित होता है।

संत ज्ञानेश्वर जी कहते है कि इस प्रकार का तप करने वाले तपस्वी को जब अथक प्रयास से अपेक्षा की पूर्ति नहीं होती दिखती तो उस का प्रयास शिथिल होते होते बीच में ही समाप्त हो जाता है, इसलिए ऐसे तप में स्थिरता या स्थायित्व भी नही हो सकता। यदि अपेक्षा पूर्ण भी हो जाए तो जैसे स्वर्ग की कामना होने से स्वर्ग मिल भी गया, तो भी यह प्रकृति के नियम से नित्य नही हो सकती, इसलिए कुछ समय पश्चात जो कुछ भी प्राप्त किया जाता है, वह नष्ट भी हो जाता है, अतः इसे का कोई स्थायित्व नही है।

ऐसा तप चलम् अर्थात् अस्थिर होने से इसका फल भी अध्रुवम् अर्थात् अनिश्चित या क्षणिक ही होता है। किसी भी कर्म का फल कालान्तर में ही प्राप्त होता है, इसलिए कर्म का अनुष्ठान करने वाला स्थिरता और सातत्य की अपेक्षा रखता है परन्तु, सत्कार अथवा प्रदर्शन के हीन उद्देश्य से किये गये तप में ये दोनों ही गुण नहीं हो सकते। इस प्रकार जब तप ही क्षणिक हो, तो उसका फल चिरस्थायी कैसे हो सकता है राजस तप चलम् और अध्रुवम होने से त्याज्य ही समझना चाहिए।

राजस तप सत्कार, कामना या दंभ के आधार पर होने के बावजूद व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं के लिए होता है, किंतु किसी को हानि पहुंचाने के लिए जो तप करते है, उसे तामसी कहते है, जिसे हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.18।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.19॥

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।

परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

"mūḍha-grāheṇātmano yat

pīḍayā kriyate tapaḥ

parasyotsādanārthaṁ vā

tat tāmasam udāhṛtam"

भावार्थ :

जो तप मूर्खतावश अपने सुख के लिये दूसरों को कष्ट पहुँचाने की इच्छा से अथवा दूसरों के विनाश की कामना से प्रयत्न–पूर्वक किया जाता है, उसे तामसी (तमोगुणी) तप कहा जाता है। (१९)

Meaning:

That which is performed out of a foolish notion, causing pain to oneself, or for ruining others, that penance is called taamasic.

Explanation:

The story of a any captured terrorist is all too familiar. At some point in their life, they start holding on to an idea or a notion which ends up becoming their mission in life. They then spend a long time, sometime years, learning all kinds of tactics and techniques that are usually reserved for the military. Eventually, they carry out their mission, in which a great deal of harm is caused to others, and to themselves as well. Either they get captured or they harm themselves in the process.

Shri Krishna describes taamasic penance in this shloka. He says that penance based on a foolish notion, a misconception or an infatuation comes out of the minds of taamasic individuals. The end goal of such penance is to cause great harm to others or to oneself. We can always refer to the Puraanas for the fate of individuals who conduct severe penance just to bring about the downfall of someone else. So called “black magic” is also conducted for harming someone.

We may look at this and dismiss it, since it sounds so extreme and not applicable to our daily lives. But many of us sometimes perform actions with a malicious intent. Politics sometimes becomes a venue for one party to perform actions simply for bringing the other party down, and not for the welfare of the country. Similarly, many people run businesses based on a personal vendetta. For instance, a person fired from a business may join a competitor just to get back. Any action performed for bringing someone else down usually backfires.

।। हिंदी समीक्षा ।।

इस श्लोक का अर्थ स्वत स्पष्ट है। एक तपस्वी साधक को तप के वास्तविक स्वरूप, उसके प्रयोजन तथा विधि का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। इस ज्ञान के अभाव में साधक अपने व्यक्तित्व के सुगठन तथा आत्मसाक्षात्कार के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकता।

वेदोपदिष्ट तप का विपरीत अर्थ समझने पर मनुष्य उस के द्वारा केवल स्वयं को ही पीड़ित कर सकता है। ऐसे आत्मपीड़न से शुद्ध आत्मा का सौन्दर्य अभिव्यक्त नहीं हो सकता वह तो हमारे पूर्णस्वरूप का केवल उपाहासास्पद व्यंगचित्र ही चित्रित कर सकता है। मूढ़ तामस तप का फल कुरूप व्यक्तित्व, विकृत भावनाएं और हीन आदर्श ही हो सकता है।

तामस तप में मूढ़तापूर्वक आग्रह होने से अपने आप को पीड़ा देकर तप किया जाता है। तामस मनुष्यों में मूढ़ता की प्रधानता रहती है अतः जिस में शरीर को, मन को कष्ट हो, उसी को वे तप मानते हैं। वे दूसरोंको दुःख देनेके लिये तप करते हैं। उनका भाव रहता है कि शक्ति प्राप्त करने के लिये तप (संयम आदि) करने में मुझे भले ही कष्ट सहना पड़े, पर दूसरों को नष्टभ्रष्ट तो करना ही है। तामस मनुष्य दूसरों को दुःख देनेके लिये उन तीन (कायिक, वाचिक और मानसिक) तपोंके आंशिक भागके सिवाय मनमाने ढंगसे उपवास करना, शीतघाम को सहना आदि तप भी कर सकता है।

देह को अनावश्यक पीड़ा दे कर, ठंडे में, अलाव जला कर, भूखे या उल्टा लटक कर, झूलते हुए या धुवें में तप करना और इस कठिन तप का उद्देश्य किसी लोभ, स्वार्थ की पूर्ति, किसी अन्य की हानि या दंभ हो तो यह तामसी वृति का तप कहलाता है। तप का अर्थ सात्विक, स्वच्छ, मनोहर और आनंद हेतु संयम की प्रक्रिया है।

पुराणों में वर्णित असुरों द्वारा घोर तप प्रायः तामस तप ही थे जिस में अपनी प्रभुता के वरदान प्राप्त कर के यह लोग जन को कष्ट भी देते है और भगवान के हाथों मृत्यु के भागी भी बनते थे। इस से यह भी समझना चाहिए, तपस्या स्वयंमेव कोई सात्विक या आध्यात्मिक क्रिया नही है, यह एक वैज्ञानिक पद्धति है, जिस से मनुष्य अपनी शारीरिक, बौद्धिक और भौतिक उन्नति कर सकता है, सात्विक इस में मानसी, कायिक और वाचिक श्रद्धा, प्रेम और विश्वास का भाव है।

महात्मा बुद्ध जब ज्ञान की तलाश में भटक रहे थे तो उन्होंने शारीरिक कष्ट सहने की क्षमता को एक बार तप मान कर शुरू कर दिया था। उसी समय उन्होंने एक लोकगीत सुना जिस का अर्थ था कि वीणा के तार इतने नही कसने चाहिए कि वीणा के तार ही टूट जाये और वीणा बजाने लायक ही न रहे। उन्होंने इस के अर्थ को समझ कर शरीर को कष्ट देने वाले अपने तप को त्याग कर वास्तविक तप को प्रारम्भ किया। ईश्वर से हमे मनुष्य जीवन वरदान स्वरूप निष्काम हो कर लोकसंग्रह हेतु कर्म करने को प्राप्त हुआ है, ईश्वर का स्पष्ट कथन है कि इसको अनर्थ कष्ट देने से कुछ नही होगा एवम न ही किसी के प्रति दुर्भावना रख कर शरीर को तपाने से कुछ होगा। ऐसा व्यक्ति अपना ही नाश पहले करता है।

व्यवहारिक जीवन मे जब हम अपनी शारीरिक एवम मानसिक क्षमता को नदरांदाज कर के उपवास रखते है और शरीर को सुखाते है। हम शास्त्रों का अध्ययन भी नही करते और कही–सुनी बातों के आधार पर मात्र कष्ट

सहने को ही तप मानते है, मन मे किसी के प्रति वैर की भावना रखते है तो इन मे कोई भी एक गुण होने से हमारा तप तामसी ही है।

तुलसीदास जी ने रावण के तप के बारे में लिखा है " किन्ह विविध तप तीनिहूॅं भाई। परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ।। करि बिनती पद गहि दससीसा । बोलेउ वचन सुनहु जगदीसा ।। हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुई बारें ।।

तामसी तप होने से मांगा गया यह वरदान अहंकार और दंभ का प्रतीक हुआ, इस के गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते है कि अल्पबुद्धि को नाशवान फल की ही प्राप्ति होती है, अतः जो मनुष्य सात्विक तप नहीं करते हुए, तामसी तप करते है, वे अपना नाश ही करते है।

श्रद्धा युक्त कर्म की श्रेणी में आगे दान के प्राकृतिक स्वरूप को पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत।। 17.19।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.20॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।

देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

"dātavyam iti yad dānaṁ

dīyate 'nupakāriṇe

deśe kāle ca pātre ca

tad dānaṁ sāttvikaṁ smṛtam"

भावार्थ :

दान देना ही कर्तव्य है– ऐसे भाव से जो दान देश तथा काल (जिस देश–काल में जिस वस्तु का अभाव हो, वही देश–काल, उस वस्तु द्वारा प्राणियों की सेवा करने के लिए योग्य समझा जाता है।) और पात्र के (भूखे, अनाथ, दुःखी, रोगी और असमर्थ तथा भिक्षुक आदि तो अन्न, वस्त्र और ओषधि एवं जिस वस्तु का जिसके पास अभाव हो, उस वस्तु द्वारा सेवा करने के लिए योग्य पात्र समझे जाते हैं और श्रेष्ठ आचरणों वाले विद्वान् ब्राह्मणजन धनादि सब प्रकार के पदार्थों द्वारा सेवा करने के लिए योग्य पात्र समझे जाते हैं।) प्राप्त होने पर उपकार न करने वाले के प्रति दिया जाता है, वह दान सात्त्विक कहा गया है॥२०॥

Meaning:

That which is donated knowing that charity is duty, to whom one is not obliged, in the right place and time, to a worthy person, that charity is called saattvic.

Explanation:

So far, Shri Krishna described the three types of food, sacrifice and penance. Food gives us energy to serve the world, to perform sacrifice. Penance enables us to conserve and channel that energy towards sacrifice. Sacrifice results in a result that is received by the recipient of the sacrifice as well as to us, the performers of the sacrifice. Accumulating results beyond what we need to support ourselves and our family can result in greed. To check this greed, we need to perform daanam or charity.

Now, even the attitude towards charity can reveal a lot about the texture of our faith. Shri Krishna described the characteristics or conditions of charity performed with a saattvic attitude. Conducting charity out of a sense of duty is the first condition. It should come naturally to us, and not because someone has asked us to do it. Charity should never be treated as a business deal. For instance, if someone has done us a favour, we should not give him something in the guise of charity. Furthermore, we should not donate something expecting something in return.

Charity is a sacred act, therefore it has to be performed thoughtfully. Tossing a coin to a beggar on the street may be a noble act, but it does not quality as an act of saattvic charity. It has to be done at the right place and during an auspicious occasion. It also has to be directed towards a worthy person. Shri Shankaraachaarya in his commentary gives the example of the occasion of Sankraanti, the beginning of the month, as an auspicious occasion. He also gives the example of a learned teacher as one who is worthy of receiving a charitable donation.

।। हिंदी समीक्षा ।।

तप के पश्चात दान के स्वरूप की श्रद्धा को भगवान श्री कृष्ण बतलाते है। दान भी तीन गुणों से युक्त सात्विक, राजसी और तामसी होता है। दान के यह गुण दान देनेवाले के भाव और कामना, लेनेवाले की आवश्यकता और दान में दी जानेवाली वस्तु के अनुसार तय होता है। भाव से अभिप्राय हम दान करने वाले की श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से ले सकते है कि वह दान करते समय दान ग्रहण करने वाले व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार की श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ दान कर रहा है।

यदि हम किसी भी व्यक्ति, समाज, देश या विश्व मे ऐसी वस्तु या सेवा को प्रदान करते है जिसे हम भौतिक रूप से अपनी मान रहे है तो वह बिना मूल्य के, ऐच्छिक एवम बिना किसी प्रत्युकार के बदले में, देश एवम स्थान के अनुसार योग्य पात्र को निष्काम भाव से दी जानी चाहिये। निष्काम भाव की प्रधानता का प्रतिपादन करते हुए, यह बताया गया है वर्ण, आश्रम, अवस्था और परिस्थिति के अनुसार शास्त्रविहित दान करना और अपने स्वत्व को यथा शक्ति दूसरो के हित में लगाना ही मनुष्य जीवन का कर्तव्य है।

दान के अर्थववेद का सूक्त है – सौ हाथों के उत्साह एवं प्रयत्न द्वारा हे मानव! धन धान्य आदि का संपादन कर और हजारों हाथों की उदारता द्वारा तू उस का कर, योग्य अधिकारियो में वितरण कर। ऋग्वेद में भी बताया है कि अतिथि, बंधु वर्ग, दरिद्र आदि को न दे कर, केवल आप अकेला ही अन्नादि को खाता है वह अन्न नही अपितु पाप ही खाता है।

यदि किसी सेवा या प्रत्युकार के बदले में कोई दान दिया जाए तो वह कर्तव्य निर्वाह एवम आदान–प्रदान का व्यापार ही माना जाता है क्योंकि ऐसा करते समय मन मे किसी की सेवा या वस्तु के ऋण से उऋण होने की भावना रहती है। जिस वस्तु पर न्यायोचित अधिकार नही है अर्थात चोरी, लूट या अनैतिक तरीके से कमाए धन का दान करना, आध्यात्मिक और सात्विक भाव का दान नही है। इस के अतिरिक्त जो वस्तु अपने लिए अनुपयोगी न हो, उस को नष्ट करने या निकालने के उद्देश्य से किसी को दे देना भी दान नही है।

इसी दान देते वक्त मन मे कुछ पाने की कामना रहती है जिस से यह लोक या परलोक सुधर जाए या नाम, मान या सम्मान चाहिये तो भी यह व्यापार है। भगवान के मंदिर में चढ़ावा, विद्यालय, गौशाला, धर्मशाला या अस्तपताल में दान करते हुए तख्ती लगवाना, इसी श्रेणी में आता है।

किसी ऐसी वस्तु या सेवा को करना जो जिस के प्रति अनुपयोगी हो, तो भी वह दान नही है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में कंबल बाटना, भूख से पीडित व्यक्ति को उपदेश देना या किसी रोग से पीड़ित व्यक्ति को वर्जित भोजन देना।

दान के उपयुक्त पात्र दो प्रकार के बताए गए है। प्रथम जो परिस्थितियो से आर्त है, गरीब है और विवश है। जैसे भूकम्प, बाढ़ या दंगो से पीड़ित आदि। इन की निष्काम सेवा एवम सहायता करने में पात्रता नही देखी जाती की वह किस धर्म, जाति या वर्ग से है।

द्वितीय उन पात्रों को लेते है जो ब्राह्मण, वानप्रस्थ–सन्यासी या विद्वान है एवम जिन्होंने ने विद्या दान या ब्रह्म व्रत धारण कर के भिक्षुक वृति को मात्र शरीर को पालन करने स्वीकार किया है, यह लोग संग्रह भी नही करते। प्रथम पात्र के अतिरिक्त दान श्रेष्ठ आचरण वाले विद्वान, उत्तम ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी और सेवाव्रती लोगो को दिया दान श्रेष्ठ है।

समय और स्थान के लिये भी दान की उपयोगिता बात बताई है कि तीर्थ स्थान, मंदिर, अनाथाश्रम, वृद्धाश्रम, सेवालय आदि स्थान दान के उत्तम स्थान है एवम उत्तम काल भी कालगणना के अनुसार संक्रांति, एकादशी, त्योहार आदि भी है।

आज के युग में बीमार, असहाय, असमर्थ व्यक्ति के लिए रक्तदान, नेत्रदान या अंगदान भी कर के मनुष्य अपने भौतिक शरीर का जीवन मृत्यु के उपरांत भी उपयोग कर सकता है।

भगवान श्री कृष्ण कहते है वही दान सात्विक है जो उपयुक्त पात्र को निष्काम भाव से देश एवम काल के अनुसार बिना किसी प्रत्युकार के दिया जाए। जब अनेक लोगों को उपर्युक्त मत में विश्वास रखकर तदनुसार दान करने में कठिनाई अनुभव होती हो। तो गीता का यह कथन उचित ही है कि मनुष्य को निष्काम हो कर बस इसी बात का विचार करना चाहिए कि उसका दान समाज के योग्य पुरुषों को प्राप्त हो रहा है अथवा नहीं। दान को कर्तव्य समझकर दिये जाने पर वह सात्त्विक दान ही कहलाता है।

इस प्रकार दानवीरों में अनेक नाम है जिन में कर्ण, राजा बलि आदि की कीर्ति की कथाएँ आज भी जन जन से सुनी जा सकती है। आगे हम राजसी दान को पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.20 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.21॥

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।

दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

"yat tu pratyupakārārthaṁ

phalam uddiśya vā punaḥ

dīyate ca parikliṣṭaṁ

tad dānaṁ rājasaṁ smṛtam"

भावार्थ :

किन्तु जो दान क्लेशपूर्वक (जैसे प्रायः वर्तमान समय के चन्दे-चिट्ठे आदि में धन दिया जाता है।) तथा प्रत्युपकार के प्रयोजन से अथवा फल को दृष्टि में (अर्थात् मान बड़ाई, प्रतिष्ठा और स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए अथवा रोगादि की निवृत्ति के लिए।) रखकर फिर दिया जाता है, वह दान राजस कहा गया है॥२१॥

Meaning:

And that which is donated for repaying an obligation, or with the intent of a reward, and also reluctantly, that charity is called raajasic.

Explanation:

Let me give something to this politician's charitable organization, so that at a later stage I will be able to use him to further my business. Let me give something to this doctor's son on his birthday, so that I will be taken care of in a medical emergency. Let me give a new year gift to to my neighbour, so that he will come to my aid if I am in trouble and so on. In all these thoughts, a tinge of selfishness has crept in. Shri Krishna says that the giving of charity, and gifts in general, while expecting something in return, is raajasic charity.

Furthermore, charity is also performed to repay a favour or an obligation to someone else. This is referred to as "pratyupkaara" in the shloka. For instance, repaying a favour with cash sometimes is frowned upon socially. We may then think about repaying the favour through a charitable donation or a gift in kind. Such charity is also considered raajasic, because a business mindset, a transaction oriented mindset has come into the picture. We are not really performing charity, we are doing a business deal.

The most raajasic form of charity is when we donate something with the feeling of “pariklishtam”. It means doing something reluctantly, unwillingly, with a heavy heart, with a feeling of sadness. We are so attached to the money or goods being donated that we cannot bear to see them separated from us. We will think hundred times before donating anything. What will happen if I donate this? How will I replace it? Will I need it again? Our mamatva, our sense of mine-ness is quite strong, and needs to be examined.

।। हिंदी समीक्षा ।।

दान करते समय यदि किसी प्रत्युकार की भावना हो तो यह दान राजस हो जाता है, जैसे किसी संस्था में दान देने का उद्देश्य वहाँ कोई पद प्राप्त करना या समाज मे नाम कमाना या दान दे कर प्रसिद्धि को प्राप्त कर के अपने गलत कार्यो को छुपाना या अच्छे रिश्तों की चाह में दान देना या लोक–परलोक सुधारने के लिये दान देना या व्यक्ति विशेष को लाभ पहुचाने के लिये दान देना। कभी कभी किसी देश मे कर–प्रणाली में छूट का लाभ लेने के लिये भी दान राजस ही है। विशेष वर्ग को लाभ पहुचाने या विशेष वर्ग का समर्थन प्राप्त करने के लिये भी दिया दान राजस है।

जब मजबूरी या दवाब में आकर दान देना पड़े उसे क्लेश पूर्वक दान मानेगे, यह किसी के हठ या भय पर भी अनिच्छा पूर्वक दिया हुआ दान है, अतः इसे भी राजस माना गया है।

राजस दान को हम किसी कामना की पूर्ति, दवाब या अनिच्छा से, अनैतिक तरीके से कमाए धन का दान, अपने परलोक के सुधार या मन मार कर क्लेश के साथ किया दान कह सकते है। दानवीर कर्ण के दान के विषय में कहा जाता है कि वह अत्यधिक दान महानदानी कहलाने के लिए देता था, इसलिए उस के द्वार से कोई भी याचक वापस न जाए, उस ने अपना कवच – कुंडल तक दान कर दिया। किंतु दधीचि द्वारा इंद्र की याचना पर अपने शरीर का दान किसी भी फल के आशा के साथ नही था। राजा बलि ने तीन लोक वामन अवतार विष्णु को दान किए किंतु दान करते समय उस में अहम था और उस ने बदले में विष्णु द्वारा दिए वरदान स्वीकार किए। अनेक स्कूल, कॉलेज, धार्मिक या सामाजिक संस्था, धर्मशाला, मंदिर आदि का निर्माण और कार्य संचालन के साथ साथ दान दाताओं की सूची या प्रबंधन के अधिकार या नाम पट्टिका की कामना से जो लोग संसार में लोगो का भला कर रहे है, वे राजस दानी है। किंतु नाम की लालसा को त्याग कर जो विभिन्न संस्थाओं में सेवा भाव से जुड़े है और अपने जीवन का होम कर रहे है, वे लोग ही सात्विक दानी है, फिर चाहे वे पद में भी हो या बिना किसी पद के।

अभी पद्मभूषण अवॉर्ड के समय कई ऐसे महान व्यक्तियों के नाम आए जो निस्वार्थ भाव से जन की सेवाओं में योगदान दे रहे है, उस का सम्मान स्वीकार करना उन के दान को राजसी होना सिद्ध करता है।

अतः वह समस्त दान राजस कहा गया है, जो दान प्रत्युपकार के लिये अर्थात् कालान्तर में यह मेरा प्रत्युपकार करेगा, किसी फल प्राप्ति इस अभिप्राय से अथवा इस दान से मुझे परलोकमें फल मिलेगा ऐसे उद्देश्य से, क्लेश पूर्वक दवाब में अनिच्छा से या खेदपूर्वक दिया जाता है। किंतु दान तामसी किस प्रकार का होता है, यह हम आगे पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.21।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.22॥

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।

असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

"adeśa-kāle yad dānam

apātrebhyaś ca dīyate

asat-kṛtam avajñātaṁ

tat tāmasam udāhṛtam"

भावार्थ :

जो दान बिना सत्कार के अथवा तिरस्कारपूर्वक अयोग्य देश–काल में और कुपात्र के प्रति दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है॥२२॥

Meaning:

That which is donated at an incorrect place or time, to wrong persons, without respect and out of ignorance, that charity is called taamasic.

Explanation:

Having covered the nature of saatvic and raajasic charity, Shri Krishna now describes taamasic charity. He says that charity performed without considering a proper time and place is considered taamasic. If we donate on a whim rather than doing so on an auspicious day, for instance, we introduce a tinge of our ego into the donation. Also, gifts that trouble the recipient, gifts given out of complete ignorance, are taamasic as well. Donating an expensive TV to a person who is struggling to eat does not make sense.

Many people nowadays take pleasure in insulting their priest or their teacher while giving them a gift, simply because they are drunk with power and money. Such charity in which an insult, a slur or a taunt is given along with the gift also becomes taamasic. If we disrespect the recipient of our charity, we are harming ourselves and the recipient instead of performing an auspicious act. A gift should always be given with politeness and humility. Furthermore, gifts should never be given to unworthy persons such as robbers and criminals.

We should be careful, however, to use our judgement and our discretion while performing charity, and not abstain for charity just because we are worried about going against the rules prescribed here. There are millions of people around the world that struggle to survive, that are in need of food, water, clothing and medicine. If we donate money to any institution that provides needy people with these amenities, we may not have control over the time and place of the donation, but that should not stop us. More broadly, there are instances where our acts of sacrifice, penance and charity may have a defect in them. Shri Krishna gives us a formula to deal with them next.

।। हिंदी समीक्षा ।।

शास्त्रविहित श्रद्धा रखने वालों के दान के गुण को बताते हुए भगवान श्री कृष्ण कहते है, जो दान अयोग्य देशकाल में अर्थात् अशुद्ध वस्तुओं और म्लेच्छादि से युक्त पापमय देश में तथा पुण्य के हेतु बतलाये हुए संक्रान्ति आदि विशेषता से रहित काल में और मूर्ख, चोर आदि अपात्रों को दिया जाता है तथा जो अच्छे देशकालादि में भी बिना सत्कार किये, प्रिय वचन, पादप्रक्षालन और पूजादि सम्मान से रहित तथा पात्र का अपमान करते हुए दिया जाता है, वह तामस दान कहा गया हैं।

तामस दान सात्विक दान के विपरीत रीति का है, इसलिये तामसी दान किसी तिरस्कार या अपमानित कर के, देश–काल और स्थान का ध्यान नही रख कर दिया जाता है, पात्रता को भी ध्यान नही दिया जाता है। स्थान और समय से आशय अस्वच्छ स्थान पर, अस्वच्छ या असमाजिक क्रिया करते हुए भी ले सकते है।

अन्न, जल, वस्त्र और औषध– इन चारों के दान में पात्र कुपात्र आदि का विशेष विचार नहीं करना चाहिये। इस में भी देश, काल, और पात्र मिल जाय, तो उत्तम बात और न मिले, तो कोई बात नहीं। लेकिन कुपात्र को अन्नजल इतना नहीं देना चाहिये कि जिस से वह पुनः हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त हो जाय जैसे कोई हिंसक मनुष्य अन्न जल के बिना मर रहा है, तो उस को उतना ही अन्नजल दे कि जिस से उस के प्राण रह जायँ, वह जी जाय। इस प्रकार उपर्युक्त चारों के दान में पात्रता नहीं देखनी है, प्रत्युत आवश्यकता देखनी है।

दान श्रद्धा, प्रेम और विश्वास के साथ त्याग का विषय है, दान लेने वाला और दान करने वाला दोनो में से कोई भी यदि तामसी गुण से युक्त होगा तो दान के विषय त्याग, सहयोग, सम्मान और उपयोगिता से बाहर, तिरस्कार, उपेक्षा, दंभ, अहंकार और दान की गई वस्तु की अनुपयोगिता में बदल जाएगा। जब दानी दान की गई वस्तु पर वैधानिक अधिकार नही रखता तो उस का दान भी तामसी अर्थात निरर्थक है। वैसे ही दान लेने वाला कपट, छल या गलत उद्देश्य से दान प्राप्त करता है तो यह दान भी तामसी है।

गीता में तामस कर्म का फल अधोगति बताया है और रामचरितमानस में बताया है कि जिस किसी प्रकार से भी दिया हुआ दान कल्याण करता है –जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।।

इन दोनों में विरोध है, जिसे हम समझने की चेष्टा करते है

धर्म के चार चरण हैं– सत्यं दया तपो दानमिति। इन चारों चरणों में से कलियुग में एक ही चरण दान है – दानमेकं कलौ युगे (मनुस्मृति 1। 86)।

इसलिये गोस्वामीजी महाराज ने कहा –– प्रगट चारि पद धर्म के कलि महुँ एक प्रधान। जेन केन बिधि दीन्हें दान करइ कल्यान।। (मानस 7। 103 ख)

इस कलियुग के समय मनुष्यों का अन्तःकरण बहुत मलिन हो रहा है। इसलिये कलियुग में एक छूट है कि जिस किसी प्रकार भी किया हुआ दान कल्याण करता है। इस से मनुष्य का दान करने का स्वभाव तो बन ही जायगा, जो आगे कभी किसी जन्म में कल्याण भी कर सकता है।

आहार, यज्ञ, तप और दान के समान ही ज्ञान, कर्म, कर्ता, बुद्धि, धृति और सुख की त्रिविधिता का वर्णन अध्याय 18.20-39 में किया है, अतः श्रद्धा युक्त शास्त्र का अध्ययन न करने वालो के कर्म के गुणभेद प्रकरण यही समाप्त होते है। गीता में आसुरी वृति से धन के अर्जन के दान के विषय मे यद्यपि कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है किंतु यह स्पष्ट है कि कर्म का फल सम्पति के अर्जन की त्रिविधि और दान की त्रिविधि का परिणाम कर्म के साथ ही संयुक्त है, अतः तामसी विधि से अर्जित धन का दान भी तामसी ही होना चाहिए।

आगे ब्रह्मनिर्देश के आधार पर हम सात्विक कर्म की श्रेष्ठता और संग्राह्यता को पढ़ेगे, क्योंकि कर्म सात्विक, राजस या तामसी कैसा भी हो दुखदायक और दोषमय माना गया है, फिर कर्म करने या उस का भेद क्यों किया जाता है। गीता कहती है कि कर्म के सात्विक, राजस, और तामस भेद परब्रह से अलग नहीं है, जिस संकल्प में ब्रह्म का निर्देश किया गया है, उसी में सात्विक कर्मो और सत्कर्मो का समावेश होता है, और इस से निर्विवाद सिद्ध है कि ये कर्म अध्यात्म दृष्टि से भी त्याज्य नही है। अतः आगे परब्रह के जिस स्वरूप का ज्ञान अर्जित किया गया है, उस परब्रह को हम ॐ तत्सत इन तीन शब्दो के माध्यम से पढेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। 17. 22 ।।

।। दान, कर्म के त्रय गुण और दैवीय और आसुरी सम्पदा में राम सुख दास जी।। विशेष गीता 17.22 ।।

अन्न, जल, वस्त्र और औषध इन चारों के दान में पात्र कुपात्र आदि का विशेष विचार नहीं करना चाहिये। इन में केवल दूसरे की आवश्यकता को ही देखना चाहिये। इसमें भी देश, काल, और पात्र मिल जाय, तो उत्तम बात और न मिले, तो कोई बात नहीं। हमें तो जो भूखा है, उसे अन्न देना है जो प्यासा है, उसे जल देना है जो वस्त्रहीन है, उसे वस्त्र देना है और जो रोगी है, उसे औषध देनी है। इसी प्रकार कोई किसी को अनुचितरूप से भयभीत कर रहा है, दुःख दे रहा है, तो उससे उसको छुड़ाना और उसे अभयदान देना हमारा कर्तव्य है। कुपात्र को अन्नजल इतना नहीं देना चाहिये कि जिस से वह पुनः हिंसा आदि पापों में प्रवृत्त हो जाय जैसे कोई हिंसक मनुष्य अन्नजल के बिना मर रहा है, तो उस को उतना ही अन्नजल दे कि जिस से उसके प्राण रह जायँ, वह जी जाय। इस प्रकार उपर्युक्त चारों के दानमें पात्रता नहीं देखनी है, प्रत्युत आवश्यकता देखनी है।

ग्यारहवें से बाईसवें श्लोक तक के इस प्रकरण में जो सात्त्विक यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब के सब,दैवी सम्पत्ति हैं और जो राजस तथा तामस यज्ञ, तप और दान आये हैं, वे सब के सब आसुरी सम्पत्ति हैं।

आसुरी सम्पत्ति में आये हुए राजस यज्ञ, तप और दान के फल के दो विभाग हैं – दृष्ट और अदृष्ट। इन में भी दृष्ट के दो फल हैं – तात्कालिक और कालान्तरिक। जैसे – राजस भोजन के बाद तृप्ति का होना तात्कालिक फल है और रोग आदि का होना कालान्तरिक फल है। ऐसे ही अदृष्ट के भी दो फल हैं – लौकिक और पारलौकिक। जैसे – दम्भपूर्वक दम्भार्थमपि चैव यत् (17। 12), सत्कार मान पूजा के लिये सत्कारमानपूजार्थम् (17। 18) और

प्रत्युपकार के लिये प्रत्युपकारार्थम् (17। 21) किये गये राजस यज्ञ, तप और दान का फल लौकिक है और वह इसी लोक मे, इसी जन्म में, इसी शरीर के रहते रहते ही मिलने की सम्भावना वाला होता है।

स्वर्ग को ही परम प्राप्य वस्तु मान कर उस की प्राप्तिके लिये किये गये यज्ञ आदि का फल पारलौकिक होता है। परन्तु राजस यज्ञ अभिसन्धाय तु फलम् (17। 12) और दान फलमुद्दिश्य वा पुनः (17। 21) का फल लौकिक तथा पारलौकिक – दोनों ही हो सकता है। इस में भी स्वर्ग प्राप्ति के लिये यज्ञ आदि करने वाले और केवल दम्भ, सत्कार, मान, पूजा, प्रत्युपकार आदि के लिये यज्ञ? तप और दान करने वाले दोनों प्रकार के राजस पुरुष जन्ममरण को प्राप्त होते हैं। परन्तु तामस यज्ञ और तप करनेवाले (17। 13, 19) तामस पुरुष तो अधोगति में जाते हैं, अधो गच्छन्ति तामसाः (14। 18), पतन्ति नरकेऽशुचौ (16। 16), आसुरीष्वेव योनिषु (16। 19) ततो यान्त्यधमां गतिम् (16। 20)।

जो मनुष्य यज्ञ कर के स्वर्ग में जाते हैं, उन को स्वर्ग में भी दुःख, जलन, ईर्ष्या आदि होते हैं । जैसे – शतक्रतु इन्द्र को भी असुरों के अत्याचारों से दुःख होता है, कोई तपस्या करे तो उस के हृदय में जलन होती है, वह भयभीत होता है। इसे पूर्वजन्म के पापों का फल भी नहीं कह सकते क्योंकि उनके स्वर्गप्राप्ति के प्रतिबन्धकरूप पाप नष्ट हो जाते हैं – पूतपापाः (9। 20) और वे यज्ञ के पुण्यों से स्वर्गलोक को जाते है। फिर उन को दुःख, जलन, भय आदि का होना किन पापों का फल है इस का उत्तर यह है कि यह सब यज्ञ में की हुई पशु हिंसा के पाप का ही फल है।

दूसरी बात, यज्ञ आदि सकामकर्म करने से अनेक तरह के दोष आते हैं। गीता में आया है –– सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः (18। 48) अर्थात् धुएँ से अग्नि की तरह सभी कर्म किसी न किसी दोष से युक्त हैं। जब सभी कर्मों के आरम्भ मात्र में भी दोष रहता है, तब सकाम कर्मों में तो (सकामभाव होने से) दोषों की सम्भावना ज्यादा ही होती है और उन में अनेक तरह के दोष बनते ही हैं। इसलिये शास्त्रों में यज्ञ करने के बाद प्रायश्चित्त करने का विधान है। प्रायश्चित्त विधान से यह सिद्ध होता है कि यज्ञ में दोष (पाप) अवश्य होते हैं। अगर दोष न होते, तो प्रायश्चित्त किस बात का परन्तु वास्तव में प्रायश्चित्त करने पर भी सब दोष दूर नहीं होते, उन का कुछ अंश रह जाता है जैसे – मैल लगे वस्त्र को साबुन से धोने पर भी उस के तन्तुओं के भीतर थोड़ी मैल रह जाती है। इसी कारण इन्द्रादिक देवताओं को भी प्रतिकूल परिस्थितिजन्य दुःख भोगना पड़ता है।

वास्तव में दोषों की पूर्ण निवृत्ति तो निष्कामभावपूर्वक कर्तव्य कर्म कर के उन कर्मों को भगवान् के अर्पण कर देने से ही होती है। इसलिये निष्कामभावसहित किये गये कर्म ही श्रेष्ठ हैं। सब से बड़ी शुद्धि (दोषनिवृत्ति) होती है – मैं तो केवल भगवान् का ही हूँ, इस प्रकार अहंतापरिवर्तनपूर्वक भगवत्प्राप्ति का उद्देश्य बनाने से, इस से जितनी शुद्धि होती है, उतनी कर्मों से नहीं होती । भगवान्ने कहा है – सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं।

जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।। (मानस 5। 44। 1)

तीसरी बात गीता में अर्जुन ने पूछा कि मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप का आचरण क्यों करता है तो उत्तर में भगवान्ने कहा –– काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः (3। 37)। तात्पर्य है कि रजोगुण से उत्पन्न कामना ही पाप कराती है। इसलिये कामना को लेकर किये जानेवाले राजस यज्ञ की क्रियाओं में पाप हो सकते हैं।

राजस तथा तामस यज्ञ आदि करनेवाले आसुरी सम्पत्ति वाले हैं और सात्त्विक यज्ञ आदि करने वाले दैवीसम्पत्तिवाले हैं परन्तु दैवीसम्पत्ति के गुणों में भी यदि राग हो जाता है, तो रजोगुण का धर्म होने से वह राग भी बन्धनकारक हो जाता है (गीता 14। 6)।

।। हरि ॐ तत् सत् ।। विशेष गीता 17.22।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.23॥

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।

ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥

भावार्थ :

ॐ, तत्, सत्–ऐसे यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्दघन ब्रह्म का नाम कहा है, उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण और वेद तथा यज्ञादि रचे गए॥२३॥

"oṁ tat sad iti nirdeśo

brahmaṇas tri-vidhaḥ smṛtaḥ

brāhmaṇās tena vedāś ca

yajñāś ca vihitāḥ purā"

Meaning:

Om, Tat, Sat, this has been declared as the triple indicator of the eternal essence. By that were created the braahmanaas, the Vedas and the sacrifices, long ago.

Explanation:

Arjuna began this chapter with a question to Shri Krishna: How can we determine the texture of our faith, as to whether it is saattvic, raajasic or taamasic? Shri Krishna replied that we need to infer this from our actions and the attitude behind our actions. He then showed us the three types of food, sacrifice, penance and charity. The takeaway for us is that we should slowly stop performing raajasic and saatvic actions, and increase our saattvic actions. But even if we manage to perform only sattvic actions, there will always be the chance of some error creeping in.

Here, Shri Krishna gives us a formula, a technique to remove errors and defects in saattvic actions. This purifier is the combination of three words - Om, Tat and Sat. All three words are indicators of the eternal essence, of brahman. In fact, each of these words has been used in the Vedas to refer to the eternal essence. Om comes up in the Rig Veda. Tat and Sat come up in the Chhaandogya Upanishad. The word Sat is also used in the second chapter of the Gita to refer to the eternal essence. Note that the eternal essence is beyond name and form. These words are only pointers.

It has been explained that penance, sacrifice, charity and foods are divided into three categories: the modes of goodness, passion and ignorance. But whether first class, second class or third class, they are all conditioned, contaminated by the material modes of nature. When they are aimed at the Supreme -- om tat sat, the Supreme Personality of Godhead, the eternal -- they become means for spiritual elevation. In the scriptural injunctions such an objective is indicated. These three words, om tat sat, particularly indicate the Absolute Truth, the Supreme Personality of Godhead. In the Vedic hymns, the word om is always found.

One who acts without following the regulations of the scriptures will not attain the Absolute Truth. He will get some temporary result, but not the ultimate end of life.

The conclusion is that the performance of charity, sacrifice and penance must be done in the mode of goodness. Performed in the mode of passion or ignorance, they are certainly inferior in quality. The three words om tat sat are uttered in conjunction with the holy name of the Supreme Lord, e.g., om tad vishnoh. Whenever a Vedic hymn or the holy name of the Supreme Lord is uttered, om is added. This is the indication of Vedic literature. These three words are taken from Vedic hymns. Om

ity etad brahmano nedishtham nama (Rig Veda) indicates the first goal. Then tat tvam asi (Chandogya Upanishad 6.8.7) indicates the second goal. And sad eva saumya (Chandogya Upanishad 6.2.1) indicates the third goal. Combined they become om tat sat. Formerly when Brahma, the first created living entity, performed sacrifices, he indicated by these three words the Supreme Personality of Godhead. Therefore the same principle has always been followed by disciplic succession. So this hymn has great significance. Bhagavad-gita recommends, therefore, that any work done should be done for om tat sat, or for the Supreme Personality of Godhead. When one performs penance, charity and sacrifice with these three words, he is acting in Krishna consciousness. Krishna consciousness is a scientific execution of transcendental activities which enables one to return home, back to Godhead. There is no loss of energy in acting in such a transcendental way.

Next, Shri Krishna gives us the heritage of this purifier. Prajaapati, Lord Brahma, created the universe along with the sacrifice and the Vedas, as we have seen in the third chapter. He also created braahmanaas, who performed rituals and sacrifices with faith in the Vedas. These braahmanaas would always use Om Tat Sat to purify their sacrifices, to remove any defects in the rituals. Now, per the teaching of karma yoga, whenever we perform saattvic actions, they automatically become a sacrifice. Therefore, even we can use Om Tat Sat to purify our saattvic actions.

।। हिंदी समीक्षा ।।

' ॐ तत् सत् ' संकल्प ही सम्पूर्ण सृष्टि का मूल है। परब्रह नित्य, निर्गुण, निराकार एवम सर्वश है तो उस का कोई नाम या आकार नही हो सकता किन्तु जैसे जन्म लेने के बाद बालक का नाम रख देने से, जब भी उसे उस नाम से पुकारते है तो वह उस को अपने होने का स्मरण कराता है। जगत के क्लेशों से पीड़ित जीव जब पीड़ा से क्लेशित होता है तो वह जिस नाम से ब्रह्म को पुकारता है, उस नाम से ब्रह्मतत्व बोल उठता है। वेदों एवम ऋषि मुनियों ने अपनी दिव्य दृष्टि से जिस मंन्त्र को खोज निकाला है जिस के सहयोग से ब्रह्मतत्व भी वाणी के क्षेत्र में आ गया और जिस मंन्त्र से ब्रह्म के अद्वेत स्वरूप व्यक्त स्वरूप अनुभव किया जा सकता है, वह ॐ तत सत है। कहते है सृष्टि की रचना करते हुए ब्रह्मा जी व्याकुल हो कर जब सब कुछ भुला बैठे थे, उस समय इन तीन शब्दो के मनन से उन्हें सृष्टि की रचना का सामर्थ्य पुनः प्राप्त हुआ। इसलिये यह मानो ब्रह्मा जी ने परब्रह को पुकारने के लिये दान–पत्र ही लिख कर सृष्टि को दे दिया।

किं यत्तत्पदमनुत्तमम (किम, यत, तत, पद, अनुत्तम) तथा सदसदक्षरमक्षरम (सत, असत, क्षर, अक्षर) यह सब परमात्मा के नाम है। इसलिये वेद–विहित समस्त कर्म ॐ से, तत से और सत से सम्बन्ध कर के समझना चाहिए।

जीव पूर्ण ब्रह्म का अंश है और प्रकृति भी ब्रह्म द्वारा रचित है। जीव और प्रकृति से संयोग से इस सृष्टि की रचना हुई है जिस में परम ब्रह्म पिता की भूमिका में है, जीव का मुख्य धेय भी प्रकृति से मुक्त हो कर पुनः परब्रह्म को प्राप्त करना है तो यज्ञ, तप और दान आदि जितने भी कर्म है उनको एक सूत्र में ॐ तत सत द्वारा पिरोया गया है।

ॐ तत् और सत् - यह तीन प्रकार का परमात्मा का निर्देश है अर्थात् परमात्मा के तीन नाम हैं।उस परमात्मा ने पहले वेदों, ब्राह्मणों और यज्ञों को बनाया। इन तीनों में विधि बताने वाले वेद हैं, अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण हैं और क्रिया करने के लिये यज्ञ हैं। अब इन में यज्ञ, तप, दान आदि की क्रियाओं में कोई कमी रह जाय तो क्या करें परमात्मा का नाम लें तो उस कमी की पूर्ति हो जायगी।

ॐ तत् सत् जिस शब्द के द्वारा किसी वस्तु को इंगित किया जाता है उसे निर्देश कहते हैं। इस प्रकार, तत्सत् ब्रह्म का त्रिविध निर्देश माना गया है अर्थात् इनमें से प्रत्येक शब्द ब्रह्म का ही संकेतक है। प्राय कर्मकाण्ड के विधान में कर्म करते समय इस प्रकार के निर्देश के स्मरण और उच्चारण का उपदेश दिया जाता है, जिस के फलस्वरूप कर्मानुष्ठान में रह गयी अपूर्णता या दोष की निवृत्ति हो जाती है। प्रत्येक कर्म अपना फल देता है, परन्तु वह फल केवल कर्म पर ही निर्भर न होकर कर्त्ता के उद्देश्य की शुद्धता की भी अपेक्षा रखता है। कोई व्यक्ति कितने ही परिश्रमपूर्वक किसी प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान क्यों न करे, यदि उसका उद्देश्य हीनस्तर का है तो वह अनुष्ठान उस कर्ता को श्रेष्ठ फल प्रदान करने में असमर्थ होता है। हम सब के कर्म एक समान प्रतीत हो सकते हैं, तथापि एक व्यक्ति को प्राप्त फल दूसरे से भिन्न होता है। इसका कारण कर्ता के उद्देश्य का गुणधर्म ही हो सकता है।

ईश्वर के स्मरण के द्वारा हम अपने उद्देश्यों की आभा को और अधिक तेजस्वी बना सकते हैं। अनात्म उपाधियों से तादात्म्य को त्यागने से ही हम अपने परमात्म स्वरूप में स्थित हो सकते हैं। जिस मात्रा में हमारे कर्म निस्वार्थ होंगे उसी मात्रा में प्राप्त पुरस्कार भी शुद्ध होगा।

अहंकार के नाश के लिए साधक को अपनी आध्यात्मिक प्रतिष्ठा का बोध होना आवश्यक है। उस आत्मतत्त्व का प्रतीक है जो अजन्मा, अविनाशी, सर्व उपाधियों के अतीत और शरीरादि उपाधियों का अधिष्ठान है। तत् शब्द परब्रह्म का सूचक है। उपनिषदों के प्रसिद्ध महावाक्य तत्त्वमसि में, तत् उस परम सत्य को इंगित करता है, जो सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय का स्थान है अर्थात् जगत्कारण ब्रह्म तत् शब्द के द्वारा इंगित किया गया है। सत् का अर्थ त्रिकाल अबाधित सत्ता। यह सत्स्वरूप सर्वत्र व्याप्त है। इस प्रकार, तत्सत् इन तीन शब्दों के द्वारा विश्वातीत, विश्वकारण और विश्व व्यापक परमात्मा का स्मरण करना ही उसके साथ तादात्म्य करना है। ईश्वर स्मरण से हमारे कर्म शुद्ध हो जाते हैं। तत्सत् द्वारा निर्दिष्ट ब्रह्म से ही समस्त वर्ण, धर्म, वेद और यज्ञ उत्पन्न हुए हैं। अध्यस्त सृष्टि का कारण उसका अधिष्ठान ही होता है।

अर्जुन का प्रश्न था कि जब शास्त्रज्ञान का अभाव हो तो श्रद्धा के अनुसार किये हुए कर्म को हम किस प्रकार पहचान सकते है। भगवान श्री कृष्ण ने आहार, यज्ञ, तप और दान के द्वारा श्रद्धा के त्रिविधि गुणों को बताया।

किन्तु कोई भी कर्म बिना फल का नही होता और कर्म के बिना जीवन भी नही होता है। इसलिये कर्म के निर्देश स्वरूप इन तीन शब्दो द्वारा समस्त व्याख्या का सार समझाया जा रहा है।

आगामी चार श्लोकों में इन तीन शब्दों के प्रयोग के विधान एवम व्याख्या को पढ़ते हैं।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.23 ।।

।। ॐ तत् सत् ।। गीता विशेष 17.23 ।।

गीता अध्ययन में श्लोक के अर्थ न देते हुए, अल्प विश्राम ले कर "ॐ तत सत" के अत्यंत महत्वपूर्ण वाक्य पर चिंतन करते है।

परब्रह के स्वरूप के मनुष्य को जो कुछ भी ज्ञान हुआ, वह समस्त ज्ञान ॐ तत सत इन तीन शब्दो मे निर्देशित किया गया। ॐ परब्रह का सूचक है जिस का समय समय पर उपनिषदों में भिन्न भिन्न रूप में व्याख्या की गई है। जब वर्णाक्षर ॐ जगत का प्रारम्भ था तो समस्त क्रियाओ का प्रारम्भ भी वही से होता है। अतः तत शब्द का अर्थ सामान्य कर्म से परे का कर्म अर्थात निष्काम बुद्धि से फलाशा छोड़ कर किया हुआ सात्विक कर्म, किन्तु हर कर्म कामना रहित नही हो सकता, इसलिए सत का अर्थ वह कर्म है जो यद्यपि फलाशा सहित हो तो भी शास्त्रानुसार किया गया हो और शुद्ध हो – यही उक्त संकल्प का अर्थ है।

ऐसा माना गया है सृष्टि की रचना से पूर्व ब्रह्मा जी व्याकुल हो गए और रचना कैसे और किस प्रकार करे। तब परब्रह्म ने उन्हें ॐ तत्सत का मंत्र दिया जिस से वे सृष्टि की रचना कर सके।

सृष्टि की रचना ब्रह्मा अर्थात प्राप्ति ने की थी जिस ने ब्राह्मण यानि समस्त प्रजा, वेद यानि ज्ञान और यज्ञ यानि कर्म की रचना की। परमात्मा से समस्त कर्ता, कर्म और कर्म विधि की उत्पति का वाचक शब्द "ॐ तत सत" है।

अतः ॐ तत सत हमे निष्काम बुद्धि से शास्त्रानुसार सात्विक कर्म के साथ सकाम शास्त्रानुसार सत कार्य भी परब्रह के सामान्य और सर्वमान्य संकल्प में जोड़ने का निर्देश है।

ओम् तत् सत्– इन तीन शब्दों में असीम शक्ति छिपी है। ये शब्द हिन्दू धर्म के सार को अभिव्यक्त करते हैं। इसमें पहला शब्द है ओम्। उच्चारण की दृष्टि से इसकी ध्वनि मूल ध्वनि कही जाती है। यह ध्वनि सार्वकालिक

है। कहा जाता है कि सभी वेद गायत्री मंत्र में समाहित हो जाते हैं और गायत्री स्वयं ओम् में। संभवतः यही कारण है कि सभी वैदिक श्लोक ओम् से ही शुरू होते हैं। हर उत्पत्ति के मूल में 'ओम् तत् सत्' है।

ॐ, तत् और सत् – ऐसा तीन प्रकार का नाम ‘ ब्रह्मणः निर्देशः स्मृतः’ – ब्रह्म का निर्देश करता है, स्मृति दिलाता है, संकेत करता है और ब्रह्म का परिचायक है। उसी से ‘पुरा’ – पूर्व में (आरंभ में) ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि रचे गये हैं। अर्थात् ब्राह्मण, यज्ञ और वेद ओम् से पैदा होते हैं। ये योगजन्य हैं। ओम् के सतत चिंतन से ही इनकी उत्पत्ति है, और कोई तरीका नहीं है।

इसका एक अर्थ यह भी है कि भगवान ही जीवनी शक्ति के वाहक हैं और जीवनी शक्ति पूरी सृष्टि में विद्यमान है। 'ओम्' सर्वशक्तिमान का द्योतक है। 'तत्' का शाब्दिक अर्थ है वह। 'सत्' का अभिप्राय शाश्वत से है। यह परम सत्य का प्रतीक है। सभ्यता के आरंभ से ही तीनों शब्दों का प्रयोग सर्वोच्च या सर्वशक्तिमान के लिए किया जाता रहा है। इन तीनों शब्दों का प्रयोग वेद मंत्रों का उच्चारण करते समय किया जाता था। परमात्मा को जब कुछ अर्पित किया जाता था, तब भी इनका उच्चारण किया जाता था। ऋषियों–मुनियों ने 'ओम्' शब्द को आध्यात्मिक अर्थों में देखा है। प्रत्येक धार्मिक कर्मकांड से पहले वे ओम् का उच्चारण इस रूप में करते रहे हैं मानो यह शब्द अंधेरे में प्रकाश की किरण हो।

इसलिये ब्रह्म का कथन करनेवाले पुरुषों की शास्त्रविधि से नियत की हुई यज्ञ, दान और तप – क्रियाएँ निरंतर ‘ओम्’ इस नाम का उच्चारण करके ही की जाती हैं, जिससे उस ब्रह्म का स्मरण हो जाय।

अब तत् शब्द का प्रयोग बताते हैं–

तत् अर्थात् वह (परमात्मा) ही सर्वत्र है, इस भाव से फल को न चाहकर शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट नाना प्रकार की यज्ञ, तप और दान की क्रियाएँ परम कल्याण की इच्छा करनेवाले पुरुषों द्वारा की जाती हैं। तत् शब्द परमात्मा के प्रति समर्पणसूचक है। अर्थात् जप तो ओम् का करें तथा यज्ञ, दान और तप की क्रियाएँ उस पर निर्भर होकर करें।

'तत्' शब्द का आशय उस ब्रह्म से है, जो दीप्त है। वह, जो तीनों लोकों से परे है और जिसका अस्तित्व ब्रह्मांड की उत्पत्ति से भी पहले से है। तत् उसी के एक रूप को प्रतिबिंबित करता है। यज्ञ, दान और तप से जैसे ही किसी फल की प्राप्ति होती है, ऋषि–मुनि तत् का उच्चारण करते हैं, ताकि फल ब्रह्म को प्राप्त हो सके। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि तत् शब्द किसी भी चीज को अपना नहीं मानने की भावना को दर्शाता है। जो कुछ ओम् से शुरू होता है, तत् के साथ समाप्त हो जाता है। अतः तत् निष्काम भाव से किए कर्म का परिचायक है। इसलिए योगी, तत्वविद अपने कर्म तत् के उच्चारण के साथ करते है।

अब सत् के प्रयोग का स्थल बताते हैं–

और सत्; - योगेश्वर ने बताया कि सत् क्या है, गीता के आरंभ में ही अर्जुन ने प्रश्न खड़ा किया कि कुलधर्म ही शाश्वत है, सत्य है, तो श्रीकृष्ण ने कहा– अर्जुन ! तुझे यह अज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ? सत् वस्तु का तीनों कालोँ में कभी अभाव नहीं होता, उसे मिटाया नहीं जा सकता और असत् वस्तु का तीनों कालोँ में अस्तित्व नहीं है, उसे रोका नहीं जा सकता। वस्तुतः वह कौन– सी वस्तु है, जिसका तीनों कालोँ में अभाव नहीं है और वह असत् वस्तु है क्या, जिसका अस्तित्व नहीं है, तो बताया– यह आत्मा ही सत्य है और भूतादिकोँ के समस्त शरीर नाशवान् हैं। आत्मा सनातन है, अव्यक्त है, शाश्वत और अमृतस्वरूप है– यही परमसत्य है।

अर्जुन को युद्ध भूमि में जिन के युद्ध हो रहा है, उस व्यक्ति विशेष के सत होने का भ्रम था। अक्सर सत में हम नाशवान शरीर को सत्य समझ लेते है, जबकि नाशवान शरीर सत्य नहीं है, वह आज है, कल नही रहेगी। सत्य कर्तव्य धर्म का पालन है, वह कर्म है जो हमे निष्काम सात्विक भाव से तत स्वरूप करना चाहिये या फिर शास्त्रानुसार सकाम होते हुए करना चाहिये और परब्रह को समर्पित कर देना चाहिये।

' सत्' का उच्चारण सभी अवास्तविक चीजों का नाश करता है और काल से परे सिर्फ एक सर्वोच्च शक्ति को स्थापित करता है। इस धारणा के अनुसार संसार में दिखने वाली सभी चीजें अवास्तविक और शक्तिहीन हैं। सही शक्ति की पहचान ही आत्म ज्ञान है।

जब कोई ध्यान करता है, तब भी वह ओम् का जाप करता है। ओम् के उच्चारण में कंपन की उत्पत्ति होती है। तत् ध्यान की मुद्रा में प्रकाश की तरह है। यह ईश्वर के प्रति चेतना का प्रतीक है। सत् आशीर्वाद की तरह है, जिसकी अनुभूति ध्यान की गहरी मुद्रा में होती है। सत् सृष्टा है। तत् सृष्टि है और जिसकी सृष्टि हो रही है, वही ओम् है। पूरे ब्रह्मांड की उत्पत्ति ओम् से हुई है। ब्रह्मांड को ओम् का ही सहारा है और यह ब्रह्मांड फिर ओम् में ही मिल जाएगा। ओम उस सच्चाई की अभिव्यक्ति है, जिसका न कोई आकार है, न कोई रूप है और जो माया से परे है। ओम् तत् सत्– बीज मंत्र है। ओम् तत् सत् ब्रह्म का ही त्रिस्तरीय नाम है। प्राचीनकाल में व्यक्ति, वेद और सेवा की उत्पत्ति ब्रह्म से और ब्रह्म के द्वारा ही की गई थी। इसीलिए जहां अर्पण के लिए या परोपकार के लिए जाने वाले कार्य की शुरुआत ओम् से ही करने का विधान है, वहीं मोक्ष प्राप्ति के लिए किए जाने वाले विभिन्न अनुष्ठान तत् के उच्चारण के साथ शुरू किए जाते हैं। ऐसा करते समय मन में यही भाव होता है कि ब्रह्म ही सब कुछ है। भगवान की आराधना करने वाले के मन में किसी प्रकार के फल का भाव भी नहीं होता। महाभारत में भगवान श्रीकृष्ण संशय में पड़े धनुर्धर अर्जुन से कहते हैं– अर्जुन, त्याग, परोपकार और संयम में विश्वास ही सत् है। सर्वशक्तिमान को ध्यान में रख निःस्वार्थ भाव से की गई हर सेवा सत् है। अगर तुम जो कर रहे हो, उसे विश्वास के साथ नहीं करते, वही असत्य है। चाहे तुमने त्याग या परोपकार ही क्यों न किया हो।

यहाँ कहते हैं, 'सत्' ऐसे परमात्मा का यह नाम 'सद्भावे' – सत्य के प्रति भाव में और साधुभाव में प्रयोग किया जाता है और हे पार्थ ! जब नियत कर्म सांगोपांग भली प्रकार होने लगे, तब सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। सत् का अर्थ यह नहीं है कि यह वस्तुएँ हमारी हैं। जब शरीर ही हमारा नहीं है, तो इसके उपभोग में आनेवाली वस्तुएँ हमारी कब हैं। यह सत् नहीं है। सत् का प्रयोग केवल एक दिशा में किया जाता है– सद्भाव में। आत्मा ही परमसत्य है– इस सत्य के प्रति भाव हो, उसे साधने के लिये साधुभाव हो और उसकी प्राप्ति करानेवाला कर्म प्रशस्त ढंग से होने लगे, वहीं सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है। इसी पर योगेश्वर अग्रेतर कहते हैं–

यज्ञ, तप और दान को करने में जो स्थिति मिलती है, वह भी सत् है– ऐसा कहा जाता है। 'तदर्थीयम्' – उस परमात्मा की प्राप्ति के लिये किया हुआ कर्म ही सत् है, ऐसा कहा जाता है। अर्थात् उस परमात्मा की प्राप्तिवाला कर्म ही सत् है। यज्ञ, दान, तप तो इस कर्म के पूरक हैं। अंत में निर्णय देते हुए कहते हैं कि इन सबके लिये श्रद्धा आवश्यक है।

हे पार्थ ! बिना श्रद्धा के किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप और जो कुछ भी किया हुआ कर्म है, वह सब असत् है– ऐसा कहा जाता है। वह न तो इस लोक में और न परलोक में ही लाभदायक है। अतः समर्पण के साथ श्रद्धा नितांत आवश्यक है।

सत और असत को ले कर कभी कभी गड़बड़ी भी हो जाती है, सत जो दृश्यवान है, आंखों से न दिखाई दे, तो भी विद्यमान है। इसलिए ब्रह्म को सत बोला गया है, किंतु अव्यक्त स्वरूप होने के कारण असत शब्द का भी प्रयोग ब्रह्म के लिए किया गया है। गीता में "ॐ तत् सत्" द्वारा ॐ को गूढ़ अक्षर रूपी वैदिक मंत्र, तत् को दृश्य दृष्टि से परे अनिर्वाच्य तत्व और सत को दृश्य दृष्टि का तत्व बता कर ब्रह्म का स्वरूप इन तीनों शब्दो के साथ किया गया है।

व्यवहार में मनुष्य जीवन क्या है? हम जन्म और मृत्यु को प्राप्त होते है और इस जगत के व्यवहार को देखते और समझते है, हमे यही सत्य भी लगता है क्योंकि दुख या सुख का अनुभव इस देह से ही मिलता है। किंतु मृत्यु हमे इस सत्य का निरंतर आभास भी कराती है कि यह जीवन या देह सत्य नही है। हम उस अज्ञात ब्रह्म को पुकारना चाहते है जिसे हम नही जानते। उस के अस्तित्व की पहचान हम ॐ अर्थात परमात्मा कह कर करते है। उस से निमित प्रकृति क्रियाशील है, यह कर्म की गति कार्य – कारण के सिद्धांत पर कार्य करती है जिस के फल स्वरूप प्रत्येक कार्य का फल अवश्य होता है। राग और द्वेष से फल बंधनकारी होता है अन्यथा फल निष्काम होने से बिना बंधन का। अतः निष्काम कर्म को तत् और सकाम कर्म को सत कहा गया है। सत अर्थात जो प्रत्यक्ष तो है किंतु नित्य नही। मनुष्य की समस्त क्रियाएं इसी ॐ तत् सत् में सीमित होती है। इसलिए प्रत्येक कार्य और यज्ञ, जप, पाठ की समाप्ति में इस को कह कर समापन किया जाता है, जो अपना कुछ भी नहीं, समस्त करने वाला एक मात्र वही है और जो कुछ भी है, उसी को अर्पण है। इस को समझने के लिए जीव का ब्रह्मविद होना भी आवश्यक है।

इसे हम गीता में श्लोक के अर्थों के साथ भी पढ़ कर समझेंगे।

।। हरि ॐ तत सत।। गीता विशेष 17.23।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.24॥

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः ।

प्रवर्तन्ते विधानोक्तः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥

"tasmād oṁ ity udāhṛtya

yajña-dāna-tapaḥ-kriyāḥ

pravartante vidhānoktāḥ

satataṁ brahma-vādinām"

भावार्थ :

इस प्रकार ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा वाले मनुष्य शास्त्र विधि के अनुसार यज्ञ, दान और तप रूपी क्रियाओं का आरम्भ सदैव "ओम" (ॐ) शब्द के उच्चारण के साथ ही करते हैं। (२४)

Meaning:

Therefore, with the chanting of Om, are the acts of sacrifice, charity and penance, according to scripture, always begun by the followers of Vedas.

Explanation:

To connect to a website, we need its address. To call someone, we need their number. To hear a radio station, we need to tune the radio to the station’s frequency. Similarly, before we begin an action, we need to align our mind, to connect our mind, to Ishvara. We can only do so when the level

of likes and dislikes, of raaga and dvesha, has been reduced to a great extent. Is there a way, a technique, by which we can quickly calm our mind down, and tone down our likes and dislikes?

Shri Krishna suggests that we chant Om prior to performing any sattvic action. Doing so sets up vibrations in our system. These vibrations reduce our likes and dislikes, and clear our mind of selfish thoughts. Visualizing the symbol of Om while chanting it is even better. Om has been used in this manner by those who have faith in the scriptures, who are performing acts of sacrifice, penance or charity. The more frequently we begin actions with Om, the more we will bring sattva into our actions.

In the Jnyaneshwari, Sant Jnyaneshwar points out that Om has an additional feature. Normally, acts of sacrifice, penance and charity bind us through attachment to their results. By adding Om, also known as the Pranava, to the start of any action helps us focus on the action and weakens attachment to the result. He says that the chanting of Om while commencing an action is as valuable as a steady light in deep darkness, and as an able-bodied companion while travelling in a jungle.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अध्यात्म दृष्टि से जगत में सभी वस्तुओं के दो वर्ग माने गए है, नाम रूप और नाम रूप से आच्छादित नित्य तत्व। यह नित्य तत्व ही ब्रह्म का स्वरूप माना गया, जिस को कभी सत और कभी असत कहा जाता है। नाम रूपात्मक जगत दृश्य है इसलिये जो दिखता है वह सत है और जो आंखों से नही दिखता वह अनृत अर्थात त्यत अर्थात परे है। किंतु सत–असत की इस परिभाषा को अंत मे बदला भी गया। गीता में भी अध्याय दो में परब्रह को सत और अविनाशी है, एवम नाम रूप जगत को असत अर्थात नाशवान कहा गया।

'ॐ तत सत' पूर्व में तैत्तिरीय उपनिषद में वर्णित परिभाषा को ध्यान में रखते हुए, ॐ प्रणव अक्षर, तत जो परे अथवा दृश्य सृष्टि से दूर रहने वाला अनिर्वाच्य तत्व और सत का अर्थ आखों के सामने वाली दृश्य सृष्टि ही लेंगे।

गीता कर्मप्रधान ग्रन्थ है, अतः ॐ तत सत ब्रह्मनिर्देश का द्वारा कर्मयोग का पूर्ण समर्थन किया है, इसलिये यहाँ इसको हम कर्मयोग के माध्यम से ही समझने की चेष्टा करेंगे।

ब्रह्मवादियों से तात्पर्य सात्त्विक, जिज्ञासु साधकों से है। अपने सभी कर्मों में परमात्मा का स्मरण रखने से उन्हें श्रेष्ठता, शुद्धता और दिव्यता प्राप्त होती है। परमात्मा के स्मरण में ही अहंकार और उसके बन्धनों का विस्मरण है। अहंकार के अभाव में, साधक अपने तपाचरण में अधिक कुशल, यज्ञ कर्मों में निस्वार्थ और दान में अधिक

उदार बन जाता है। यहां ब्रह्मवादी के लिए जाति, लिंग और वर्ण व्यवस्था के अनुसार जन्म आधारित वर्ण की कोई बात नही की गई है।

इसलिये वेद का प्रवचन पाठ करने वाले ब्राह्मणों की शास्त्रविधि से कही हुई यज्ञ, दान और तप रूप क्रियाएँ ब्रह्म के ओम् इस नाम का उच्चारण कर के ही सर्वदा आरम्भ की जाती हैं।

कारण कि सब से पहले – प्रणव प्रकट हुआ है। उस प्रणव की तीन मात्राएँ हैं। उन मात्राओं से त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है और त्रिपदा गायत्री से ऋक, साम और यजुः – यह वेदत्रयी प्रकट हुई है। इस दृष्टि से सब का मूल है और इसी के अन्तर्गत गायत्री भी है तथा सब के सब वेद भी हैं। अतः जितनी वैदिक क्रियाएँ की जाती हैं वे सब का उच्चारण करके ही की जाती हैं।

अद्वेतवाद में जीव को अपने परमब्रह्म स्वरूप का ज्ञान हो जाता है एवम उस का प्रकृति से सम्बन्ध का अज्ञान भी समाप्त को जाता है, इसलिये वह ब्रह्मसन्ध हो कर अहम ब्रह्मास्मि का मंन्त्र बोल उठता है। अतः जो ब्रह्मसन्ध है उस के समस्त कर्म भी परमात्मा के ही कर्म है और वह अपने समस्त कर्मो का प्रारम्भ ॐ से करता है। उस की श्रद्धा यजन, यज्ञ, तप एवम ज्ञान शास्त्रविहित होती है। इसलिये वेद मंन्त्र ॐ से प्रारम्भ होते है।

जो अशुद्ध है उन्हें वेद मंत्रों के उच्चारण पर रोक थी, क्योंकि बिना ब्रह्मसन्ध हुए वेद मंत्रों के उच्चारण में ब्रह्म की सिद्धि नही। कालांतर में राजनीतिक कारणों से अशुद्ध को शुद्र में परिवर्तित किया गया, जब कि जितने भी ऋषि मुनि ब्रह्मसन्ध हुए, उन की जाति नही देखी गयी।

ब्रह्म का नामरूपान्तर नही हो सकता किन्तु ब्रह्मसन्ध में प्रणव अक्षर ॐ की खोज की जिस के उच्चारण मात्र से ब्रह्म जागृत हो जाता है। ब्रह्मसन्ध के समस्त कर्म ब्रह्म के निमित है, इसलिये वेद मंत्रों में, यजन में, यज्ञ में, तप में, दान में कुछ भी करने से पूर्व ॐ का उच्चारण किया जाता है।

बोधवान मुनि में निरंहकारता के कारण विषयों को ग्रहण या त्याग करने की वृत्ति न होने से कोई कर्म– प्रयास नहीं रहता। अतः निरन्तर ब्रह्म में एकनिष्ठा के द्वारा ॐ के उच्चारण द्वारा अपने अध्यास को हमें दूर करना है। ।

"ॐ तत् सत्" का कर्म के आरंभ, मध्य और अंत, इन तीनों स्थान पर करना चाहिए। ब्रह्मवेदा जो कर्म के बंधन से मुक्त है, वह लोग यज्ञ आदि का प्रारंभ ॐ के उच्चारण से ही करते है। अर्थात उन के प्रत्येक कर्म का आधार परब्रह्म है, इसलिए ब्रह्म से एकता बनाए रखते हुए, उन के समस्त कर्म भी ब्रह्म के ही कर्म होते है।

गीता कर्मप्रधान ग्रन्थ होने से कहती है जीव को शास्त्रों के अनुसार अपने सभी कर्म ब्रह्म निमित ही मानना चाहिये। कर्म से कोई मुक्त नहीं है, जिन्हे शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान है, उन की श्रद्धा, भक्ति और विश्वास के अनुसार उन का प्रत्येक कार्य ॐ से ही शुरू होता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17. 24 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.25॥

तदित्यनभिसन्दाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।

दानक्रियाश्चविविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः॥

"tad ity anabhisandhāya

phalaṁ yajña-tapaḥ-kriyāḥ

dāna-kriyāś ca vividhāḥ

kriyante mokṣa-kāṅkṣibhiḥ"

भावार्थ :

इस प्रकार मोक्ष की इच्छा वाले मनुष्यों द्वारा बिना किसी फल की इच्छा से अनेकों प्रकार से यज्ञ, दान और तप रूपी क्रियाऐं "तत्" शब्द के उच्चारण द्वारा की जाती हैं। (२५)

Meaning:

With (chanting of) Tat, without aiming for reward, are the various acts of sacrifice, penance and charity performed by the seekers of liberation.

Explanation:

Karmayoga suggests that we should perform our duties in order to exhaust all of our vaasanaas, our latent desires, so that our mind becomes pure and fit for spiritual advancement. The primary obstacle in karmayoga is attachment at two levels. We are attached to the personal reward of an action. We are also attached to the act itself. For instance, a musician may become attached to the royalties promised to him in his recording contract. He may also become attached to the unique style of music that he has developed.

Shri Krishna says that chanting the word "Tat" when performing any saattvic action has the effect of removing these two kinds of attachment. Tat means "that" in sanskrit. It is a pointer to the eternal essence in its transcendent aspect, also known as Ishvara. Using the word Tat, we can dedicate our actions and results to any deity that we like. The act is performed by Ishvara, therefore the reward goes to Ishvara. I am only the instrument of Ishvara. This is the attitude developed when Tat is chanted with faith.

How does this work? Imagine that you are going overseas for closing a business deal. If you go with attitude that you am doing this deal for yourself, then you have to take on the associated stress that comes with the deal. But if you go with attitude that you are closing the deal for your boss or your company, your stress will significantly reduce. You are just carrying out instructions given by your boss. If the deal works out, great, otherwise there will always be another opportunity.

।। हिंदी समीक्षा ।।

ईशोपनिषद् में उपलब्ध एक मंत्र का अंतिम वाक्यांश निम्नलिखित है :

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

इसका शाब्दिक अर्थ यह है– जो विद्या और अविद्या–इन दोनों को ही एक साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार कर के विद्या से अमृतत्त्व (देवतात्मभाव = देवत्व) प्राप्त कर लेता है।

अद्वैत–वेदांत में अज्ञान को आत्मा के प्रकाश का बाधक माना गया है। यह अज्ञान जान–बूझकर नहीं उत्पन्न होता, अपितु बुद्धि का स्वाभाविक रूप है। दिक्, काल और कारण की सीमा में संचरण करने वाली बुद्धि अज्ञानजनित है, अत बुद्धि के द्वारा उत्पन्न ज्ञान वस्तुत अज्ञान ही है। इस दृष्टि से अज्ञान न केवल वैयक्तिक सत्ता है अपितु यह

एक व्यक्ति निरपेक्ष शक्ति है, जो नामरूपात्मक जगत् तथा सुखदुखादि प्रपंच को उत्पन्न करती है। बुद्धि से परे होकर तत्साक्षात्कार करने पर इस अज्ञान का विनाश संभव है।

जो पुरुष स्वयं को अपनी आसक्तियों, स्वार्थी इच्छाओं, अहंकार और उस से उत्पन्न होने वाले विक्षेपों के बन्धनों से मुक्त रहना चाहता है, उसे मुमुक्षु कहते हैं। ऐसे मुमुक्षुओं को यह श्लोक एक उपाय बताता है, जिसके द्वारा समस्त साधक स्वयं को अपनी वासनाओं के बन्धन से मुक्त कर सकते हैं। मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे फलासक्ति को त्यागकर और तत् शब्द के द्वारा परमात्मा का स्मरण करके अपने कर्तव्यों का पालन करें।

तत का शाब्दिक अर्थ है वह, वह जो परे का है। समस्त माया जन्य संसार से परे की जो परब्रह्म नामक वस्तु है, जो सर्वस्व देखनेवाली है तथा जो तत् शब्द से दर्शायी जाती है, वही सब का कारण है और इसी रूप में अंतःकरण में उस के स्वरूप का ध्यान कर के, ज्ञानी जन वाणी से भी उस का उच्चारण करते है। वे कहते है कि तत् रूपी जो ब्रह्म है, उसी को हमारी ये समस्त क्रियाएं अपने फलों सहित समर्पित हो और हमारे भोगने के लिए इन में से कुछ भी अवशिष्ट न रहे। वे "न मम" यह मेरा नही है कह कर स्वयं को समस्त कर्मफलो से पृथक कर लेते है। जब जीव अपने प्राकृतिक स्वरूप को नही भूल सकता तो व्रह्म को समर्पित को कर सात्विक भाव से कर्म तो कर सकता है। इसलिए ओमकार से आरंभ किया हुआ और तत्कार में ब्रह्मार्पण किया हुआ जो कर्म इस प्रकार ब्रह्म स्वरूप होता है, वह एकमात्र ऊपर से दृष्टिगत होनेवाला कर्म होता है।

नित्यनिरन्तर रहने वाले तत्त्व की स्मृति रहनी चाहिये और नाशवान् फल की अभिसंधि (इच्छा) बिलकुल नहीं रहनी चाहिये।नित्यनिरन्तर वियुक्त होनेवाले, प्रतिक्षण अभाव में जानेवाले इस संसार में जो कुछ देखने, सुनने और जानने में आता है, उसी को हम प्रत्यक्ष, सत्य मान लेते हैं और उसी की प्राप्ति में हम अपनी बुद्धिमानी और बल को सफल मानते हैं। इस परिवर्तनशील संसार को प्रत्यक्ष मानने के कारण ही सदासर्वदा सर्वत्र परिपूर्ण रहता हुआ भी वह परमात्मा हमें प्रत्यक्ष नहीं दीखता। इसलिये एक परमात्मप्राप्ति का ही उद्देश्य रख कर उस संसार का अर्थात् अहंता ममता का त्याग कर के, उन्हीं की दी हुई शक्ति से, यज्ञ, तप और दान आदि को उन्हीं का मान कर निष्कामभाव पूर्वक उन्हीं के लिये यज्ञ आदि शुभकर्म करने चाहिये। कहते है नानकजी भी एक बार वस्तु को तोलते समय तेरा पर रुक गए और फिर तेरा तेरा बोलते हुए तोलते गए। यही निष्काम का द्योतक है।

तत् शब्द जगत्कारण ब्रह्म का वाचक है, जहाँ से सम्पूर्ण सृष्टि व्यक्त होती है। इस प्रकार यह शब्द भूतमात्र के आत्मैकत्व का भी सूचक है। अपने कुटुम्ब के कल्याण के स्मरण रहने पर व्यक्तिगत लाभ विस्मरण हो जाता है समाज के लिए कार्य करने में परिवार के लाभ का विस्मरण हो जाता है और राष्ट्र कल्याण की भावना का उदय होने पर अपने समाजमात्र के लाभ की कामना नहीं रह जाती तथा विश्व और मानवता के लिए कर्म करने में राष्ट्रीयता की सीमायें टूट जाती हैं। इसी प्रकार, आत्मैकत्व के भाव में चित्त को समाहित कर के यज्ञदानादि कर्मों के आचरण से, अहंकार के अभाव में, अन्तकरण की पूर्वार्जित वासनाएं नष्ट हो जाती हैं और नई वासनाएं उत्पन्न नहीं होती। यही मुक्ति है।

व्यवहार में संसार में जो बुद्धि, धन, पद, सम्मान, जमीन जायदाद, स्त्री, पुरुष, पुत्र – पुत्री, मित्र आदि जितनी भी वस्तुएं है, उन पर मनुष्य का अधिकार जीवन रहते ही है। यह सब वस्तु परमात्मा की है, शरीर के साथ सभी यही छूट जाता है और कामना, अहम और आसक्ति से जो फल का बंधन होता है, वही पुनर्जन्म का कारण बनता है। इसलिए यह समस्त तत् स्वरूप परमात्मा का मान कर कर्म करने से जो निष्काम भाव उत्पन्न होगा, उस से बंधन नहीं होता। यही संसार में रहने और कर्म करने का सरल तरीका भी है।

प्रकृति के सात्विक भाव से उत्पन्न समस्त कार्य इस मे कर्ता का भाव एवम कामना न हो, वह सब तत शब्द द्वारा परमात्मा का कार्य समझ कर किया हुआ कार्य करना श्रद्धा का दूसरा रूप है। ब्रह्मार्पण किया हुआ कार्य कर्ता में कर्तृत्व अभिमान उत्पन्न कर देता है कि उस में अपने समस्त कर्म ब्रह्म को अर्पित कर दिए। जैसे लवण को जल में मिलाने से लवण का अस्तित्व तो नष्ट होता दिखाई पड़ता है किंतु वह जल में क्षारीय गुण उत्पन्न कर के विद्यमान रहता है। कर्तृत्व अभिमान से कर्ता और ब्रह्म का विभेद बना रहता है, इसलिए ओंकार के आगे तत् फिर सत जोड़ दिया गया है। आगे हम सत को पढ़ते है, जिस से ॐ तत सत को पूर्ण रूप से समझ सके।

।।हरि ॐ तत सत ।। 17.25 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.26॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्यतत्प्रयुज्यते ।

प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते॥

"sad-bhāve sādhu-bhāve ca

sad ity etat prayujyate

praśaste karmaṇi tathā

sac-chabdaḥ pārtha yujyate"

भावार्थ :

हे पृथापुत्र अर्जुन! इस प्रकार साधु स्वभाव वाले मनुष्यों द्वारा परमात्मा के लिये "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है तथा परमात्मा प्राप्ति के लिये जो कर्म किये जाते हैं उनमें भी "सत्" शब्द का प्रयोग किया जाता है। (२६)

Meaning:

The word Sat is used in the sense of existence and goodness, and also, O Paartha, the word Sat is added in the sense of an auspicious act.

Explanation:

The utterance of Om is used to focus our attention on the action, and the utterance of Tat is used to dedicate the actions and their reward to Ishvara. Even if we do all this, there could be a defect in the way the action is performed. We may have not followed some guidelines, or some external entity may have caused some problem which we may be unaware of. For most of us who are not well versed in the scriptures, is there an easy solution to this problem?

Shri Krishna says that the chanting of the word Sat during the performance of a saattvic action has the effect of removing all the errors and defects of that action. This is why words such as satkarma (good actions) and sadaachaar (good conduct) use sat as a synonym for good. But just purifying an action is not enough. The emotions, the feelings behind the action are equally important. Chanting of the word Sat has the effect of purifying our emotions as well. Words such as sadbhaava (good emotion) and sadguna (good values) illustrate this point.

The real meaning of the word Sat, however,is existence. It is a pointer to brahman, the eternal essence, the one reality. "Naabhaavo vidyate sataha" found in the second chapter of the Gita denotes that Sat, the eternal essence, always exists. It is always complete, without any duality. Therefore, the ultimate goal of uttering Sat is to mentally remove any notions of duality, mentally remove all the upaadhis or limitations, and merge oneself into the one reality, the one eternal essence.

।। हिंदी समीक्षा ।।

शंकराचार्य जी अद्वेतवाद में ब्रह्म सत्य – जीव एवम जगत मिथ्या कहा गया है। जीव को ब्रह्म में विलय होना ही मोक्ष है।

वल्लभाचार्य अपने शुद्धाद्वैत दर्शन में ब्रह्म, जीव और जगत, तीनों को सत्य मानते हैं, जिसे वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्र, गीता तथा श्रीमद्भागवत द्वारा उन्होंने सिद्ध किया है। अद्वैत सिद्धांत चराचर सृष्टि में भी व्याप्त है। जब पैर में काँटा चुभता है तब आखोँ से पानी आता है और हाथ काँटा निकालने के लिए जाता है। ये अद्वैत का एक उत्तम उदाहरण है।

संसार सत्य है और इस में होने वाले भेद भी सत्य हैं। वस्तु का स्वरूप ही भेदमय है। ज्ञान में हम वस्तु को अन्य वस्तुओं से अलग कर के एक विलक्षण रूप में जानते हैं। चूँकि ज्ञेय विषय भिन्न हैं अतः हमारा ज्ञान भी ज्ञेय के अनुसार भिन्न भिन्न होता है। रामानुज की तरह द्वैतवाद में भी ईश्वर, चित् और अचित् इन तीन नित्य, परस्पर भिन्न तत्वों को सत्य माना गया है। इन में से चित् और अचित् ईश्वराश्रित हैं। केवल ईश्वर अनाश्रित तत्व है। वह अनंत सद्गुणों से युक्त है। वही विश्व का स्रष्टा, पालक और संहारक है। वह दिव्य शरीरधारी विश्वातीत और विश्वांतर्यामी दोनों माना गया है। ईश्वर पूर्ण है– कर्मों का अधिष्ठाता ईश्वर केवल भक्ति से प्रसन्न होता है।

सत का वर्णन करते हुए परमात्मा कहते है, वह समस्त भाव जो हमे परमात्मा के सतत होने अनुभव कराते है, सद्भाव कहलाते है। इसलिये सुबह शाम राम राम बोलना या राधे राधे बोलना या किसी भी स्वरूप में परमात्मा को पूजना सद्भाव ही है।

इसी प्रकार जिन का अन्तःकरण शुद्ध, सरल एवम निर्मल है जो प्राणी मात्र के लिये श्रेष्ठ भाव रखते है, यह साधुभावे है। हृदय के दया, क्षमा आदि श्रेष्ठ उत्तम भाव सब के सब साधुभाव के अन्तर्गत हैं।

जो शुभ कर्म परमात्मा की प्राप्ति, लोककल्याण के लिये शास्त्र विहित निष्काम किये जाते है, जिस से प्राणी अर्थात जीव मात्र का हित होता है, उन्हें प्रशस्त कर्म कहते है। शास्त्र विधि के अनुसार यज्ञोपवीत, विवाह आदि संस्कार अन्नदान, भूमिदान, गोदान आदि दान और कुआँबावड़ी खुदवाना, धर्मशाला बनवाना, मन्दिर बनवाना, बगीचा लगवाना आदि श्रेष्ठ कर्म भी प्रशस्ते कर्मणि के अन्तर्गत आते हैं। इन सब श्रेष्ठ आचरणों में, श्रेष्ठ कर्मों में सत् शब्द का प्रयोग किया जाता है जैसे – सदाचार, सत्कर्म, सत्सेवा, सद्व्यवहार आदि।

जो हम आंखों से देखते है या कानो से सुनते है आदि मिथ्या या भ्रम नही कह सकते। युद्ध के मैदान में अर्जुन अपने सगे संबंधियों को देख रहा था, वह असत्य है, ऐसा समझना गलत होगा। प्रकृति शाश्वत है, जीव और प्रकृति का सम्बंध ही शाश्वत है। किंतु जो दिख रहा है वह ही हमेशा रहेगा यह समझना ही भ्रम या असत्य है। हम अपने शरीर को यदि सत्य समझ रहे है तो असत्य है क्योंकि यह परिवर्तनशील है। किन्तु शरीर, पत्नी, पुत्र या भूख प्यास, चोट, इन्द्रीयजनित क्षणिक सुख इन को असत्य भी नही कह सकते। अनित्य में नित्य तत्व के सत जानते हुए, नाशवान सत को स्वीकार करना ही सत है।इसलिये सत में श्रद्धा का भाव या यज्ञ उस के प्रति होना चाहिए जो नित्य है और अपने कर्तव्य धर्म केअनुसार श्रद्धा भाव से कर्म करते रहना ही सत को ब्रह्म के जोड़ने का गीता का यह संदेश सत्वगुण युक्त राजसी कर्म को भी स्वीकार करता है।

सत को वही समझ सकता है जो जगत के प्रत्येक कार्य, वस्तु और प्राणी को प्रकृति के अनुसार स्वीकार करते हुए भी, एक ही परम सत्य परमात्मा की देन या स्वरूप समझता है। क्योंकि सत सर्वव्याप्त और नित्य है, इसलिए जो प्रत्यक्ष हम देखते, समझते, सुनते, अनुभव करते हुए व्यवहार करते है, वह उस नित्य और सर्वव्याप्त सत्य का स्वरूप है। भूखे को भोजन कराना, मंदिर में पूजा करना, भजन करना, व्यापार या समाज में काम करना, प्रकृति के आनंद को सद्भाव में भोगना, सभी उसी सत स्वरूप परमात्मा के कर्म है।

सत्यता और साधुता तथा कर्म की प्रशस्तता को सत् शब्द के द्वारा लक्षित किया जाता है। हम सब आपेक्षिक सत्यत्व वाले जगत् में रहते हैं। हमारे लिए यह स्वाभाविक है कि अपने शरीर, मन और बुद्धि के द्वारा अनुभूयमान इस जगत् को ही हम पारमार्थिक सत्य समझ लें। अत सत् शब्द के द्वारा हमें यह स्मरण कराया जाता है कि पारमार्थिक सत्य इस आपेक्षिक सत्य रूप जगत् का भी अधिष्ठान है।

जगत में जितने भी मंगल कार्य होते है, जैसे व्यापार, विवाह, घर बनाना, देश रक्षा, दान, धर्म और पुण्य आदि, उन सब मे परमात्मा का सहयोग जीव की आस्था एवम श्रद्धा के साथ सद्भावपूर्ण बना रहे। इसलिये सत शब्द द्वारा उन समस्त सात्विक कार्यो को परमात्मा से जोड़ कर मंगलाचार किया जाता है। कुछ लोग पद या प्रसिद्धि के लिये ही सही, लोकसंग्रह हेतु दान– धर्म मे श्रद्धा भाव रखते है यह सत उन के लिये गीता द्वारा स्वीकार किया गया है।

जीव का लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना है। राजसी सत्वगुण के कर्म करते करते ही जीव निष्काम सात्विक गुण को प्राप्त करता है, फिर निष्काम कर्म करते हुए ही ज्ञानविद होता है और परब्रह को प्राप्त होता है।

संक्षेप में हम यह कह सकते है, वह समस्त कर्म, दैवी – देवता, मांगलिक कार्य और धर्म – संप्रदाय, विचार दान धर्म, क्षमा, अहिंसा, दया आदि सत का स्वरूप है जो हमे परमात्मा से जोड़े रखता है।

बीमार पड़ने पर कार्य नही होता या पंचर होने से गाड़ी नहीं चलती, वैसे सात्विक भाव न होने से ॐ तत् सत् के कार्य ओंकार स्वरूप परमात्मा के बंधन रहित कर्म नहीं हो सकते। यह हम अगले श्लोक में पढ़ते है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.26 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.27॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।

कर्म चैव तदर्थीयं सदित्यवाभिधीयते॥

"yajñe tapasi dāne ca

sthitiḥ sad iti cocyate

karma caiva tad-arthīyaṁ

sad ity evābhidhīyate"

भावार्थ :

जिस प्रकार यज्ञ से, तप से और दान से जो स्थिति प्राप्त होती है, उसे भी "सत्" ही कहा जाता है और उस परमात्मा की प्रसन्नता लिए जो भी कर्म किया जाता है वह भी निश्चित रूप से "सत्" ही कहा जाता है। (२७)

Meaning:

Steadfastness in sacrifice, austerity and charity is called Sat, and also, action relation to these is called Sat.

Explanation:

In the concluding shlokas of this chapter, Shri Krishna described the purifying chant Om Tat Sat. Any sattvic action will be freed of defects, attachment to the action and its reward will be weakened, all notions of duality will be muted when we use this purifying chant. Now we may say that in this day and age, we may not have the time to follow the guidelines given in this chapter to make our actions and our intake sattvic. Following the guidelines in the scriptures is beyond our scope anyway.

As usual, Shri Krishna makes things easy for us. He says our stithi, our steadfastness is towards Ishvara, is the most important thing to pay attention to. If we take care of our stead fastness and chant Om Tat Sat with that steadfastness, every action that we perform will become sattvic and a means towards liberation. What does sthithi or steadfastness mean? It is that which our mind is occupied the most. If we keep a notebook next to our bed, and write down the first thought that comes to mind when we wake up, we will know what our stithi is within a few days.

Many people say that a sport such as cricket or tennis is their life. Others say that it is their career, others say it is their family, others say it is their family and so on. It is the first thought that they wake up with in the morning. When our first thought, and also, the constant background thought throughout the day is that of Ishvara, all our actions will automatically become sattvic. We will not have to take any additional precaution or follow any other guideline. For instance, if we are in constant thought of Ishvara, we will never think of donating anything with a view to get something back in return. Action follows thought, and with the constant thought of Ishvara, actions take care of themselves.

।। हिंदी समीक्षा ।।

पूर्व श्लोक में सत के तीन गुणों सत्यता, साधुता और कर्म की प्रशस्तता अर्थात अच्छे उद्देश्य से धार्मिक आदि कार्य करना के तीन गुणों को पढ़ा। उसी में दो अन्य गुणों में यज्ञ, दान और तप में निष्ठा एवम परमात्मा की प्राप्ति के उद्देश्य से किए हुए कर्म को भी सत कहा है।

तत्सत् से प्रारम्भ किये गये प्रकरण का तात्पर्य यह है कि यदि साधक के यज्ञ, दान और तप ये कर्म पूर्णतया शास्त्रविधि से सम्पादित नहीं भी हों, तब भी परमात्मा के स्मरण तथा परम श्रद्धा के साथ यथाशक्ति उनका आचरण करने पर वे उसे श्रेष्ठ फल प्रदान कर सकते हैं। इसका सिद्धांत यह है कि मनुष्य जगत् में अहंकार और स्वार्थ से प्रेरित होकर शुभाशुभ कर्म करता है। इन कर्मों के फलस्वरूप उसके अन्तकरण में वासनाएं होती जाती हैं, जो उसे कर्मों में प्रवृत्त कर के उस के बन्धनों को दृढ़ करती जाती हैं। इन कर्म बन्धनों से मुक्ति पाने का उपाय कर्म ही है, परन्तु वे कर्म केवल कर्तव्य कर्म ही हों और उनका आचरण ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाना चाहिए। ईश्वर के स्मरण से अहंकार नहीं रह जाता और इस प्रकार वासनाओं की निवृत्ति हो जाती है। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है कि परमात्मा के लिए किया गया कर्म सत् कहलाता है, क्योंकि वह मोक्ष का साधन है।यज्ञदानादि कर्म परम श्रद्धा के साथ युक्त होने पर ही पूर्ण होते हैं।

जो यज्ञकर्म में, तप में , दान में स्थिति है, वह भी सत् है ऐसा विद्वानों द्वारा कहा जाता है तथा उन यज्ञादि के लिये जो कर्म है, उस ईश्वर के लिये जो कर्म है, वह भी सत् है यही कहा जाता है। इस प्रकार किये हुए यज्ञ और तप आदि कर्म, यदि असात्त्विक और विगुण हों तो भी श्रद्धापूर्वक परमात्मा के तीनों नामोंके प्रयोग से सगुण और सात्त्विक बना लिये जाते हैं।

गीता भी कर्म प्रधान है, इसलिये वह सात्विक कर्मो के अतिरिक्त राजसी कर्मो को भी मुक्ति के लिये अनुचित नही मानती यदि वह समस्त कार्य अर्थात यज्ञ, तप एवम दान धर्म एवम शास्त्र के अनुकूल हो एवम सत्वगुण से प्रेरित हो। इस के साथ कुछ कामना भी जुड़ जाए तो भी मोक्ष का मार्ग प्रशस्त ही रहता है। इसलिये ॐ तत के बाद सत शब्द को जोड़ कर यह बताया गया है कि श्रद्धा के साथ समस्त कार्य जो ब्रह्मसन्ध द्वारा, जीव द्वारा

निष्काम या सत्वगुण युक्त राजसी कार्य उस परब्रह के ही कर्म है, इसलिये जब भी किसी कर्म को करे तो ॐ तत सत द्वारा ब्रह्म कर कृत्य को समझ कर करे।

विवेकानंद की सात्विक श्रद्धा थी, तो रामकृष्ण देव में अहोभाव बना रहा और जब राजसी श्रद्धा हो जाती तो कभी हिल जाती ऐसे छः बार नरेंद्र की श्रद्धा हिली थी। तो आत्मज्ञानी गुरु मिल जाना कठिन है, आत्मज्ञानी गुरु मिल जाए तो उसमें श्रद्धा टिकना सतत कठिन है, क्योंकि श्रद्धा रजस और तमस गुण से प्रभावित हो जाती है तो हिलती जाती है या विरोध कर लेती है। इसीलिए जीवन में सत्वगुण बढ़ना चाहिए। आहार की शुद्धि से, चिंतन की शुद्धि से सत्वगुण की रक्षा की जाती है। अशुद्ध आहार, अशुद्ध विचारोंवाले व्यक्तियों का संग छोडो और जीवन की तरफ लापरवाही रखने से श्रद्धा का घटना, बढना, टूटना, फूटना होता रहता है। इसीलिए साधक साध्य तक पहुँचने में उसे वर्षों गुजर जाते है। कभी–कभी तो पूरा जन्म गुजर जाता है फिर भी साक्षात्कार नही कर पाते है। रजोगुण, तमोगुण से बचकर जब सत्वगुण बढ़ता है तो तत्वज्ञानी गुरुओं के ज्ञान में आदमी प्रविष्ट होता है। तत्वज्ञान का अभ्यास करने की आवश्यकता नही रहती, अभ्यास तो भजन करने का है और अभ्यास तो श्रद्धा को सात्विक बनाने का है, भजन का अभ्यास बढने से, सत्वगुण बढ़ने से विचार अपने आप उत्पन्न होता है।

व्यवहार में ईश्वर के प्रति श्रद्धा, प्रेम और विश्वास रखना और सात्विक भाव से परमात्मा को प्राप्त करने के लिए व्रत, उपवास, भजन कीर्तन करना, असहाय और जरूरतमंद लोगों की सहायता करना, समाज की भलाई के धर्मशाला, अस्पताल, स्कूल, गौशाला या अन्य संस्था खुलवाना या उन में दान करना, सात्विक भाव से परमात्मा को स्मरण करना आदि समस्त कार्य करना एवम स्वयं को अन्य के प्रति ईमानदारी, सत्य, विन्रम और सहयोग भाव से रहना, सत की श्रेणी आता है, इस के लिए शास्त्रों का ज्ञान न भी हो, यह व्यक्ति विशेष को उच्च स्तर पर ले जाता है, जिस से उस की मुक्ति का मार्ग खुल सके। जन जन के इस से अधिक सरल और सुगम मार्ग और कोई भी नही हो सकता।

प्रशंसनीय कर्मों के अलावा कर्मों के दो तरह के स्वरूप होते हैं –– लौकिक (स्वरूप से ही संसार सम्बन्धी) और पारमार्थिक (स्वरूप से ही भगवत्सम्बन्धी),(1) वर्ण और आश्रम के अनुसार जीविका के लिये यज्ञ, अध्यापन, व्यापार, व्यवसाय खेती आदि व्यावहारिक कर्तव्य कर्म और खानापीना, उठनाबैठना, चलनाफिरना, सोना जगना आदि दैनिक शारीरिक कर्म ,ये सभी लौकिक हैं।

(2) जप ध्यान, पाठ पूजा, कथा कीर्तन, श्रवणमनन, चिन्तन ध्यान आदि जो कुछ किया जाय, यह सब,पारमार्थिक है। इन दोनों प्रकार के कर्मों को अपने सुखआराम आदि का उद्देश्य न रख कर निष्कामभाव एवं श्रद्धा विश्वास से केवल भगवान के लिये अर्थात् भगवत्प्रीत्यर्थ किये जायँ तो वे सब के सब तदर्थीय कर्म हो जाते हैं। भगवदर्थ होने के कारण उन का फल सत् हो जाता है अर्थात् सत्स्वरूप परमात्मा के साथ सम्बन्ध होने से वे सभी दैवीसम्पत्ति हो जाते हैं, जो कि मुक्ति देनेवाली है। जैसे अग्नि में ठीकरी रख दी जाय तो अग्नि उस को अग्निरूप बना देती है। यह सब अग्नि की ही विशेषता है कि ठीकरी भी अग्निरूप हो जाती है ऐसे ही उस परमात्मा के लिये जो भी कर्म किया जाय, वह सब सत् अर्थात् परमात्मस्वरूप हो जाता है अर्थात् उस कर्म से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

उस कर्म में जो भी विशेषता आयी है, वह परमात्मा के सम्बन्ध से ही आयी है। वास्तव में तो कर्म में कुछ भी विशेषता नहीं है।

कर्म प्रधानता के लिये परमात्मा को समर्पित सभी मंगल कार्य सत है। गीता का कथन है कि श्रद्धा एवम निष्ठा में देवीसम्पद हो, किसी भी प्राणी के अहित में न हो तो समस्त कार्य यदि परमात्मा की समर्पित करते हुए, कर्तव्य धर्म का पालन करते हुए, किये जायें तो सत है, फिर चाहे उस मे सत्वगुण युक्त कामना भी क्यों न हो। जो नित्य है, शाश्वत है, सतत है उस परमात्मा को समर्पित समस्त सांसारिक कृत्य भी सत है। जैसे समुद्र में समा जाने के बाद नदियों का भेद मिट जाता है, वैसे ही ॐ तत सत कह कर समस्त कर्मो को परमात्मा अर्थात ब्रह्म को अर्पण करने से पूर्ण – अपूर्ण किए कर्मो का भेद भी मिट जाता है। इसलिए जिन्हे शास्त्र का ज्ञान न भी हो, ॐ तत् सत् के द्वारा सात्विक भाव से किए कार्य भी उन्हे मुक्ति के मार्ग पर ले जाता है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17.27 ।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ 17.28॥

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।

असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह॥

"aśraddhayā hutaṁ dattaṁ

tapas taptaṁ kṛtaṁ ca yat

asad ity ucyate pārtha

na ca tat pretya no iha"

भावार्थ :

हे पृथापुत्र अर्जुन! बिना श्रद्धा के यज्ञ, दान और तप के रूप में जो कुछ भी सम्पन्न किया जाता है, वह सभी "असत्" कहा जाता है, इसलिए वह न तो इस जन्म में लाभदायक होता है और न ही अगले जन्म में लाभदायक होता है। (२८)

Meaning:

Whatever is sacrificed, donated or done, and whatever penance is performed, without faith, it is called asat, O Paartha. It is neither here nor after death.

Explanation:

In the previous shloka, Shri Krishna asserted that any action performed with the steadfastness in Ishvara, with constant memory and faith in Ishvara, automatically becomes a saattvic action. Furthermore, with the application of the purifier Om Tat Sat, it becomes a means towards liberation. Here, such kind of action is compared with an action that is performed without any faith or steadfastness whatsoever. Action performed without any faith is called as asat, which literally means non reality or devoid of reality.

Anything done without the transcendental objective -- whether it be sacrifice, charity or penance -- is useless. Therefore in this verse it is declared that such activities are abominable. Everything should be done for the Supreme in Krishna consciousness. Without such faith, and without the proper guidance, there can never be any fruit. In all the Vedic scriptures, faith in the Supreme is advised. In the pursuit of all Vedic instructions, the ultimate goal is the understanding of Krishna. No one can obtain success without following this principle. Therefore, the best course is to work from the very beginning in Krishna consciousness under the guidance of a bona fide spiritual master. That is the way to make everything successful.

In our daily life, we can immediately tell the difference between one who puts their heart and soul into their actions, and one who is just going through the motions. We ourselves have instances where we love an action so much that we put everything in it, we get lost in it, and some other actions where we are acting like mechanical machines, like robots. Shri Krishna says that any action, any sacrifice, penance or charity performed without faith, without our soul in it, becomes a worthless action. Forget liberation, it will not even yield a result here, on this earth.

With this shloka, Shri Krishna concludes the seventeenth chapter on the three types of faith. He says that there are three types of devotees based on the texture of their faith, and are categorized as saattvic, raajasic and taamasic. In order to make ourselves fit for liberation, we should cultivate saatvic faith and eliminate the other two types of faith. This will happen only by consuming saattvic food and performing saattvic sacrifices, charity and penance. To ensure that our saatvic actions are free of errors and defects, we should use the purifier Om Tat Sat while performing the actions.

।। हिंदी समीक्षा ।।

अध्याय के अंतिम श्लोक में ॐ तत सत के अतिरिक्त श्रद्धा, निष्ठा एवम विश्वास हीन उन कर्मो के यज्ञ, दान और तप के लिये बताया गया है, जो आसुरी प्रवृति से प्रवृत्त है। यह समस्त कर्म उस परमब्रह्म से नही जुड़ सकते जो नित्य, शाश्वत एवम मोक्ष का अंतिम लक्ष्य है क्योंकि इन मे सात्विकता का अभाव है, यह जीव के नाशवान शरीर से जुड़े है, मन के विकारों से उत्पन्न है, इसलिये बिना परब्रह के प्रति सात्विक श्रद्धा, विश्वास एवम निष्ठा का प्रत्येक कर्म असत है।

इस श्लोक में, निषेध की भाषा में निश्चयात्मक रूप से भगवान् कहते हैं कि श्रद्धारहित कोई भी कर्म न इस लोक में और न मरण के पश्चात् ही लाभदायक होता है। कर्मों का फल कर्ता की श्रद्धा, उत्साह और निश्चय पर ही निर्भर करता है। मनुष्य की श्रद्धा ही उसके कर्मों को आभा प्रदान करती है। अत कर्म का फल बहुत अधिक मात्रा में कर्ता की श्रद्धा पर निर्भर करता है।यहाँ निश्चयात्मक रूप से कहा गया है कि श्रद्धारहित यज्ञ, दान, तप और अन्य कर्म असत् होते हैं। असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसलिए ऐसे असत् कर्मों से कोई वास्तविक श्रेष्ठ फल प्राप्त नहीं किया जा सकता। भगवान् के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि सब कर्मों में श्रद्धा की प्रमुखता है और उसके बिना कर्म निष्फल होते हैं।श्रद्धा का यह नियम न केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही सत्य है, अपितु लौकिक फलों की प्राप्ति में भी उतना ही सत्य प्रमाणित होता है। कर्ता को स्वयं अपने में, कर्म में तथा प्राप्य लक्ष्य में श्रद्धा आवश्यक होती है, केवल तभी वह अपनी सम्पूर्ण क्षमता के साथ प्रयत्न कर सकता है अन्यथा नहीं।अत भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि अश्रद्धा से किये गये यज्ञ, दान और तप असत् होते हैं।

यदि यहाँ यह कहा जाय कि अश्रद्धापूर्वक जो कुछ भी किया जाता है, उस का इस लोक में और परलोक में कुछ भी फल नहीं होता, तो जितने पापकर्म किये जाते हैं, वे सभी अश्रद्धासे ही किये जाते हैं, तब तो उन का भी कोई फल नहीं होना चाहिये और मनुष्य भोग भोगने तथा संग्रह करने की इच्छा को लेकर अन्याय, अत्याचार, झूठ, कपट, धोखेबाजी आदि जितने भी पापकर्म करता है, उन कर्मों का फल दण्ड भी नहीं चाहता पर वास्तव में ऐसी बात है नहीं। कारण कि कर्मों का यह नियम है कि रागी पुरुष रागपूर्वक जो कुछ भी कर्म करता है, उस का फल कर्ता के न चाहने पर भी कर्ता को मिलता ही है। इसलिये आसुरी सम्पदावालों को बन्धन और आसुरी योनियों तथा नरकों की प्राप्ति होती है।छोटे से छोटा और साधारण से साधारण कर्म भी यदि उस परमात्मा के उद्देश्य से ही निष्कामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म सत् हो जाता है अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला हो जाता है परन्तु ब़ड़े से बड़ा यज्ञादि कर्म भी यदि अश्रद्धापूर्वक और शास्त्रीय विधि विधान से सकामभावपूर्वक किया जाय, तो वह कर्म भी फल देकर नष्ट हो जाता है परमात्मा की प्राप्ति करानेवाला नहीं होता तथा वे यज्ञादि कर्म यदि अश्रद्धापूर्वक किये जायँ, तो वे सब असत् हो जाते हैं अर्थात् सत् फल देनेवाले नहीं होते।

यहाँ प्रमुख बात समझने की है कि निषिद्ध कर्म को कुछ नही कहा है क्योंकि जो पहले से वर्जित है वो सत नही हो सकते। तात्पर्य यही है कि ब्रह्मस्वरुप के बोधक इस सर्वमान्य संकल्प में ही निष्काम बुद्धि से, अथवा केवल कर्तव्य समझ कर , किये हुए सात्विक कर्म का और शास्त्रानुसार सद्बुद्धि से किये हुए प्रशस्त कर्म या सत्कर्म का समावेश है। अन्य सभी कर्म वृथा है। इस से यही सिद्ध करने का प्रयास है कि कर्तव्य धर्म का पालन जिस

का ब्रह्मनिर्देश में ही समावेश होता है और जो ब्रह्मदेव के साथ ही उत्पन्न हुआ है, उसे त्याग देना कदाचित भी उचित नही। कर्म जीव को करना अनिवार्य है, इसलिये ॐ तत सत कर्म का दिशा निर्देशक है जिस में असत कर्मो का ही त्याग उचित है। यही कारण है युद्ध भूमि में जब अर्जुन को परिस्थितियो में खड़ा कर ही दिया तो उस के कर्तव्य धर्म युद्ध ही करना है।

परमात्मा ने जीव को कर्म के अधिकार के साथ इस मृत्युलोक में मनुष्य के रूप में भेजा है। मनुष्य अपने कर्म के बंधन और उस के फलों को भोगने बार बार जन्म – मृत्यु को प्राप्त कर के कष्ट भोगता है। ज्ञान, श्रद्धा, प्रेम, विश्वास में ॐ तत् सत् जैसे गुढ़तम किंतु सरल उपाय के बाद भी यदि कोई अश्रद्धा और अज्ञान में निम्नतम श्रेणी से कर्म करता है, तो उस की प्रवृति आसुरी होगी। सात्विक और निष्काम भाव में श्रद्धा, प्रेम और विश्वास में कोई त्रुटि रह भी जाए, तो ॐ तत् सत् के द्वारा उस का निराकरण है किंतु जिस की मति विपरीत हो, उस के लिए कोई उपाय नहीं है।

ॐ तत सत का कर्म के अतिरिक्त कोई स्वरूप नही क्योंकि प्रणव अक्षर ॐ का वर्णन तो हम पहले भी पढ़ चुके है।

।। हरि ॐ तत सत ।। 17. 28।।

॥ श्रीमद्भगवद्गीता ॥ अध्यायः १७ सारांश॥

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्याय ः॥

।। |ōṃ tatsaditi śrīmadbhagavadgītāsūpaniṣatsu brahmavidyāyāṃ yōgaśāstrē

śrīkṛṣṇārjunasaṃvādē śraddhātrayavibhāgayōgō nāma saptadaśō'dhyāyaḥ||

Thus is concluded the seventeenth chapter named ‘Sraddhatrayavibhaga-yoga’ ।।

Meaning:

(The Yoga of the Division of the Threefold faith) in Srimad Bhagavad Gita which is the essence of the Upanishads, which deals with Brahman- knowledge as well as the

preparatory disciplines, and which is in the form of a dialogue between Lord Krishna and Arjuna।।

भावार्थ :

इस प्रकार उपनिषद, ब्रह्मविद्या तथा योगशास्त्र रूप श्रीमद् भगवद् गीता के श्रीकृष्ण–अर्जुन संवाद में श्रद्धात्रय विभाग–योग नाम का सत्रहवाँ अध्याय संपूर्ण हुआ ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

Summary of Bhagvad Gita Chapter 17:

Shri Krishna ended the previous chapter with the message that our actions should be prompted by scripture, and not by our selfish desires. Arjuna, foreseeing that not many people will have access to the scriptures in the future, wanted to know about the state of those people who use faith to guide their actions instead of scriptures. Shri Krishna replied that faith comes from svabhaava, from one's stock of past samskaaraas or impressions. In this chapter, he analyzes svabhaava through studying what food we eat, what actions we perform, and with which attitude do we perform those actions.

The bulk of the chapter is the analysis of food, sacrifice, charity and penance. Yajnya or sacrifice represents our duty towards Ishvara. Daana or charity represents our duty towards our fellow human beings. Tapas represents our duty towards ourselves. All of these are classified into three types: saattvic, raajasic and taamasic. Penance is broken down into three components: bodily, mental and speech. A warning against extreme and harsh penance is also given so that we do not harm ourselves or others.

Through this chapter, we are urged by Shri Krishna to reduce and ultimately stop raajasic and taamasic actions, and cultivate saattvic actions. This will purify our mind and make us fit for imbibing the knowledge of the eternal essence. However, even our saattvic actions may still have some defects or errors, which can be removed with the chanting of the purifier Om Tat Sat. In fact, as long as our steadfastness, our sthiti, is in Ishvara, all actions will automatically become saattvic.

।। सारांश –सप्तदशोऽध्याय ।।

ब्रह्मसूत्र, वेदान्त दर्शन का आधारभूत ग्रन्थ है। इसके रचयिता बादरायण हैं। इसे वेदान्त सूत्र, उत्तर–मीमांसा सूत्र, शारीरक सूत्र और भिक्षु सूत्र आदि के नाम से भी जाना जाता है। इस पर अनेक भाष्य भी लिखे गये हैं। अपने वर्तमान रूप में इसकी रचना अनुमानतः ४०० से ४५० ईसा पश्चात हुई थी। ब्रह्मसूत्र में उपनिषदों की दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विचारों को साररूप में एकीकृत किया गया है।

वेदान्त के तीन मुख्य स्तम्भ माने जाते हैं – उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र। इन तीनों को प्रस्थानत्रयी कहा जाता है। इस में उपनिषदों को श्रुति प्रस्थान, गीता को स्मृति प्रस्थान और ब्रह्मसूत्रों को न्याय प्रस्थान कहते हैं। ब्रह्मसूत्रों को न्याय प्रस्थान कहने का अर्थ है कि ये वेदान्त को पूर्णतः तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। वेदान्त का अर्थ ही है वेदों के बाद। व्यास ऋषि के समकक्ष बादनारायन जी का नाम है किंतु बहुत कम लोग उन्हें जानते है। ब्रह्मसूत्र ब्रह्म के स्वरूप को जानने और समझने और प्राप्त करने के अभूतपूर्व सूत्र है। इसमें गीता भी एक आधार है। क्योंकि जीवन को व्यवहारिकता के साथ विभिन्न वेदों एवम उपनिषदों का सार इस में है।

अध्याय सोलहवें में देवीसम्पदा एवम आसुरी सम्पदा के साथ मे, कर्तव्य एवम अकर्तव्य रूप मर्यादा बांधने के लिये शास्त्र विधि के अनुसार कर्तव्य कर्म करने को कहा गया था।

जिस से अर्जुन ने शंका करते हुए उन लोगो की श्रद्धा के बारे में प्रश्न किया जो कर्म बिना शास्त्र को पढ़े या समझे करते है। वस्तुतः यह अध्याय व्यवहारिक ज्ञान जन सामान्य के लिए मोक्ष का मार्ग का स्वरूप बतलाता है, जिन्होंने शास्त्रों का अध्ययन नही किया किन्तु किसी के अनुयायी बन कर रीति रिवाजों में अपनी अपनी श्रद्धा, प्रेम और विश्वास से परमात्मा की आराधना करते रहते है। मनुष्य के निषिद्ध कर्म को छोड़ कर सभी कर्म का वर्गीकरण यज्ञ, तप और दान के स्वरूप में किया गया है। किसी भी कर्म के प्रति भाव, कामना और आसक्ति को प्रकृति के गुणों के आधार पर सात्विक, राजसी और तामसी बताई गई है और प्रकृति के इन तीन गुणों के महत्व के अनुसार ही श्रद्धा और विश्वास भी सात्विक, राजसी और तामसी गुणों में विभाजित की गई है।

परमात्मा ने विस्तार से यजन एवम आहार को सात्विक, राजसी एवम तामसी श्रद्धा के रूप में बताया। ततपश्चात यज्ञ, तप और दान का विवेचन किया गया।

तप के कायिक, वाचिक एवम मानसी स्वरूप को भी स्पष्ट किया गया।

शास्त्रज्ञान से श्रद्धा रख कर कर्म करनेवाला, कर्ता कर्म से परे होता है। किंतु शास्त्रविधि न जानने वाला प्रकृति के तीनों गुणों से बंधा होने से, अपनी श्रद्धा अपने मनोभावों एवम कामनाओं के आधार पर सात्विक, राजसी और तामसी होता है। यदि निष्काम भाव से यजन, आहार, यज्ञ, तप और दान किये जायें तो निश्चय ही सात्विक होते

है। परब्रह को यजन करने वाला सात्विक, अन्य देवताओं का यजन करने वाला राजसी और भूत–प्रेत का यजन करने वाला तामसी।

अंत मे ॐ तत सत को बताया गया कि श्रद्धा किसी भी रूप में हो, वह सब उस ब्रह्म को समर्पित कर देना चाहिए, जिस को प्राप्त कर के मोक्ष मिले। अतः श्रद्धा के कर्म ॐ–तत–सत को विस्तृत रूप से बताया गया।

इस के अतिरिक्त जो असत है, वो श्रद्धा से प्रेरित कर्म कौन कौन से वर्णन है।

यह अध्याय कर्म प्रधानता एवं उस को किस भाव एवम विचार से करने की प्रेरणा देता है। वह भी उन परिस्थितियो में जब शास्त्र का पूर्ण ज्ञान न हो। जीव का मुख्य धैय जन्म–मरण से मुक्त हो कर परमात्मा में विलय होना है। परमात्मा ने यह एक सुंदर संसार रचा है, जिस में जीव –प्रकृति के साथ अहंकार एवम अहम भाव मे कर्म करता है। थोड़ा सा मार्गदर्शन भी सही मार्ग को पकड़ने के सहायक होता है। फिर एक बार सही मार्ग पकड़ में आ गया तो जीव के प्रयास कभी व्यर्थ नही होते और वह मुक्ति के मार्ग पर अग्रसर हो जाता है। यह जगत सत्य है, जीव–प्रकृति का सम्बंध भी सत्य है किंतु नित्य नही। प्रकृति अपने स्वरूप में शाश्वत है किंतु हमेशा परिवर्तनशील। जो आज है वह कल नही होगा किन्तु उस को देखनेवाला जीव नित्य एवम साक्षी है। उस को अपना भ्रम को समझने की जरूरत है। जिस से वह अपनी श्रद्धा असत की ओर न ले जाये।

गीता में मनुष्य जीवन का उद्देश्य मोक्ष को प्राप्त करना है। ज्ञान मार्ग अत्यंत कठिन होने से भक्ति मार्ग को लोग चुनते है। किंतु सभी कर्तव्य कर्म शास्त्रोचित होना आवश्यक है। अतः जिन्हे शास्त्रों का ज्ञान नहीं, वे लोग प्रर्याप्त श्रद्धा, प्रेम से जो भी पूजा पाठ या कर्तव्य कर्म करते है, उन के विषय में अर्जुन की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए परमात्मा ने स्पष्ट किया कि सात्विक भाव में श्रद्धा, विश्वास और प्रेम से जो भी कर्म, आहार तप, दान या यज्ञ निष्काम भाव से किया जाए, वह भी मोक्ष के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। व्यवहार में भाषा का ज्ञान, शिक्षा और व्यवसाय के अनुसार जीवन व्यापन के कारण सांसारिक व्यक्ति को समय परमात्मा के ध्यान और तप में अधिक निकाल पाना संभव नही, इसलिए सांसारिक व्यक्ति सात्विक भाव ॐ तत् सत् में अपने सभी सात्विक कर्म, कामना और आसक्ति परमात्मा को समर्पित करता हुआ भी जीवन व्यापन करे तो भी वह मोक्ष के मार्ग पर ही है। इस लिए इस अध्याय में ॐ तत् सत् को परमात्मा द्वारा स्पष्ट करना भी अत्यंत आवश्यक था।

।। हरि ॐ तत सत – सप्तदशोऽध्याय ।। अध्याय 17 ।।

==========